ISSN 2229-6328

भाग षट्त्रिंश तृतीय खण्ड

ॐ पावमानी

त्रैमासिकी मूल्याङ्किता वैदिक शोधपत्रिका

सामवेदीय ब्राह्मण ग्रन्थों में विविध विद्याएँ

ISSN 2229-6328

ओ३म्

प्रेरणास्रोत : प. पू. स्व. स्वामी समर्पणानन्द जी महाराज

पावमानी

त्रैमासिकी मूल्याङ्किता (Peer Reviewed) वैदिक शोधपत्रिका

भाग: षट्त्रिंश तृतीय खण्ड (वि. सं. २०७८)

सामवेदीय ब्राह्मण ग्रन्थों में विविध विद्याएँ

प्रकाशक

स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान

गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, भोला, मेरठ- २५०५०१

जुलाई - सित. २०२१ **मूल्य १००.००**

एक प्रति का मूल्य	...	१०० रु०
वार्षिक सदस्यता शुल्क	...	४०० रु०
आजीवन सदस्यता शुल्क	...	२००० रु०
आजीवन सदस्यता शुल्क (छात्रों हेतु)	...	१५०० रु०
आजीवन सदस्यता शुल्क (संस्था हेतु)	...	५००० रु०
सहयोगी सदस्यता शुल्क	...	५५०० रु०
संरक्षक सदस्यता शुल्क	...	१०००० रु०
परामर्शक सदस्यता शुल्क	...	११००० रु०

आभार

पावमानी के इस अङ्क का सम्पूर्ण व्ययभार आश्रम के प्रति एकनिष्ठ स्व. माता प्रकाशवती जी की प्रेरणा से रस्तौगी प्रकाशन, मेरठ, उ.प्र. ने वहन किया।

- स्वत्वाधिकारी, प्रकाशक, मुद्रक

स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान
गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, भोला,
मेरठ - २५०५०१ (उ.प्र.)
दूरभाष : ८००६७०२५५१

अणुवाक्:
pavamani86@gmail.com

- **पावमानी**- ISSN२२२९-६३२८

भाग: षट्त्रिंश, तृतीय खण्ड
जुलाई-सित. २०२१

- प्राप्ति स्थान-

गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, मेरठ

- मुद्रक

रस्तौगी प्रकाशन, मेरठ (उ.प्र.)

- प्रेरणास्रोत :

प.पू. स्व. श्री स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती

- प्रधान सम्पादक

स्वामी विवेकानन्द सरस्वती

- सम्पादक

प्रो. सोमदेव शतांशु
०९८३७६४७४२७

डॉ. वाचस्पति मिश्र
०९३१९००२४०२

- **कल्पादितः** १,९७,२९,४९१२२ गते
- **सृष्टि आदितः** १,९६,५८,८५१२२ गते
- **युगाब्द** ५१२२
- **दयानन्दाब्द** १९५

सम्पादकीयम्

मानव जीवन में ज्ञान का अत्यधिक महत्त्व है। ज्ञान के कारण ही मनुष्य अपने इहलौकिक एवं पारलौकिक कर्तव्यों को विधिवत् पूर्ण करने में समर्थ होता है। ज्ञान के कारण ही मनुष्य कर्तव्य-अकर्तव्य, कर्म-अकर्म, धर्म-अधर्म, नीति-अनीति, सत्य-असत्य तथा उचित-अनुचित के निर्णय करने में सक्षम बनता है। ज्ञान के कारण ही मनुष्य पशुत्व का परित्याग कर देवत्व की ओर प्रवृत्त होता है। जिस प्रकार से अग्नि अनायास ही काष्ठसमूह को भस्म कर देती है, उसी प्रकार से ज्ञानाग्नि समस्त प्रकार के अशुभ कर्मों का नष्ट कर देती है-

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा॥ गीता ४.३७

ज्ञान की प्रधानता के कारण ही मनुष्य संसार के समस्त प्राणियों में श्रेष्ठ है। इसीलिए भगवान् श्रीकृष्ण ने ज्ञान को संसार में सबसे पवित्र कहा है-

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। गीता ४.३८

ज्ञान का अनादि, अनन्त तथा अजस्र स्रोत वैदिक साहित्य ही है। यह साहित्य विश्व का सबसे प्राचीन तथा सबसे विशालकाय साहित्य है। यह साहित्य किसी वर्ग विशेष, क्षेत्र विशेष अथवा काल विशेष के लिए न होकर सार्वजनीन, सार्वभौम और सार्वकालिक है। संसार की समस्त

संस्कृतियों के सकारात्मक पक्ष कहीं न कहीं इस साहित्य से आप्लावित एवं प्रभावित हैं।

यद्यपि इस सार्वभौम, सार्वजनीन एवं सार्वकालिक ज्ञान परम्परा को समय समय पर में विधर्मियों के द्वारा नष्ट-भ्रष्ट करने का प्रयास अनवरत रूप से किया जाता रहा किन्तु भारतीय ऋषि, मनीषी एवं आचार्यों ने अपने त्याग, श्रद्धा एवं समर्पण से इस अनादि, अनन्त तथा अजस्र ज्ञान परम्परा को अक्षुण्ण रखने का सर्वसम्भव प्रयास किया।

प्राचीनकाल में वेदों का पठन-पाठन विधिवत् होता था अतः जनमानस इसके अर्थ को जानने में क्लिष्टता अनुभव नहीं करता था किन्तु कालान्तर में जब आलस्य एवं प्रमाद के कारण वेदार्थ को जानने में मनुष्य क्लिष्टता अनुभव करने लगे तब वेद के अर्थ की सरल एवं सुगम बनाने के लिए ऋषियों ने ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना की।

प्रत्येक वेद के स्वतन्त्र ब्राह्मण ग्रन्थ हैं। सामवेद का ०८ ब्राह्मण ग्रन्थों की चर्चा वैदिक साहित्य में प्राप्त होती है-

अष्टौ हि ब्राह्मणग्रन्थाः प्रौढं ब्राह्मणमादिदम्।
षड्विंशाख्यं द्वितीयं स्यात् ततः सामविधिर्भवेत्॥
आर्षेयं देवताध्यायो भवेदुपनिषत् ततः।
संहितोपनिषद् वंशो ग्रन्था अष्टावितीरिताः॥ सामविधान ब्राह्मण भाष्य (वेदार्थ प्रकाश) उपक्रमणिका (६-७)

इन ब्राह्मण-ग्रन्थों में अपने वेद से सम्बद्ध ज्ञान, उपासना पद्धति, कर्मकाण्ड एवं विविध वैज्ञानिक रहस्यों की चर्चा है। ब्राह्मणग्रन्थों में निहित इस गूढ़ ज्ञान-विज्ञान के जन-जन तक प्रचार-प्रसार के लिए स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान, गुरुकुल प्रभात आश्रम, मेरठ क्रमशः वैदिक संगोष्ठियों का आयोजन कर रहा है। इसी श्रृंखला में इस बार '**सामवेदीय ब्राह्मण ग्रन्थों में विविध विद्याएँ**' विषय पर वैदिक शोध

संगोष्ठी आयोजित की गई। इस अवसर पर देश-विदेश के लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों ने उक्त विषय पर अपने सारगर्भित व्याख्यान प्रस्तुत किए।

वस्तुतः ब्राह्मण-ग्रन्थों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय याग की प्रक्रिया का सांगोपांग विवेचन करना है। इसके साथ ही यज्ञीय विधि-विधानों की व्याख्या, देवतानिरूपण, उपासनाओं की चर्चा, महाव्याहृतियों की मीमांसा, साम-सम्प्रदाय के प्रवर्तक ऋषियों की वंश परम्परा के वर्णन के तथा प्रचुर सांस्कृतिक एवं दार्शनिक सामग्री सामवेदीय ब्राह्मण-ग्रन्थों में प्राप्त होती है। लोक जीवन से सम्बद्ध विविध विषयों का भी सामवेदीय ब्राह्मणों में विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है।

अपनी प्राचीन ज्ञान परम्परा को संरक्षित कर उसके प्रचार-प्रसार का दायित्व हम सबका है। इसी उद्देश्य से स्वाध्याय (स्व शाखा अध्याय) को नित्य कर्तव्य के रूप में रखा गया है। अपनी प्राचीन ज्ञान परम्परा को संरक्षित करने के लिए स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान प्रतिवर्ष दो बार वैदिक शोध संगोष्ठियों का आयोजन करता है तथा इन शोध संगोष्ठियों से निकलने वाली पावन ज्ञान गंगा को त्रैमासिकी शोध पत्रिका **पावमानी** के माध्यम से जन-जन तक पहुँचाने का प्रयास कर रहा है। पावमानी के इस अंक के माध्यम से आप सब सामवेदीय ब्राह्मणों में वर्णित ज्ञान-विज्ञान की परम्परा को जानकर ऐहिक एवं पारलौकिक अभ्युदय को प्राप्त करेंगे।

इन्हीं कामनाओं के साथ...

प्रो. सोमदेव शतांशु

अनुक्रमणिका

सामवेदीय "षड्विंश" ब्राह्मण में यज्ञों की प्रतीकात्मकता

प्रो. सोमदेव शतांशु[1]

सामवेदीय ब्राह्मणों में यज्ञों का विस्तार से वर्णन उपलब्ध है। इस लेख में उनकी प्रतीकात्मकता के विषय में कुछ विवेचन किया जा रहा है। भट्टभास्करकृत ब्राह्मण ग्रन्थों की परिभाषा के अनुसार- **ब्राह्मणं नाम कर्मणस्तन्मन्त्राणां च व्याख्यानग्रन्थः।**[2] ब्राह्मण-ग्रन्थ यज्ञादि कर्मकाण्डों के विधिज्ञापक एवं मन्त्रव्याख्यानपरक हैं। अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधादि यज्ञों के माध्यम से ऋषियों ने वेद के आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक, आधिसामाजिक आदि विभिन्न ज्ञान-विज्ञान को समझाने का प्रयास किया है। इस सम्बन्ध में पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक जी का यह वाक्य सर्वदा ध्यातव्य है-

द्रव्ययज्ञों का मूल आधार है- आधिदैविक जगत् में सतत प्रवर्त्तमान देवयज्ञ, जिसका संकेत- **यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्**[3] में उपलब्ध है। ऋषियों ने आधिदैविक जगत् के

---

[1] **अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, गुरुकुल कांगड़ी (समविश्वविद्यालय) हरिद्वार**

[2] भट्टभास्कर-तैत्तिरीय संहिता

[3] यजु. ३१

रहस्यों को हृदयङ्गम कराने के लिए द्रव्यमय यज्ञों का प्रवर्तन किया। जैसे पृथिवी के परिज्ञान के लिए नक्शा तथा भूगोल की पुस्तक की कल्पना की गई, खगोल के परिज्ञान के लिए खगोल के चित्र तथा प्राचीन ऐतिहासिक घटनाओं के प्रत्यक्ष परिज्ञान रंगमञ्च नाट्यशास्त्र आदि का वर्णन किया गया।[४]

पूज्य स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती जी का सम्पूर्ण शतपथ-भाष्य भी ब्राह्मण ग्रंथों की प्रतीकात्मक शैली का सुस्पष्ट निदर्शन है, जो **सत्यम् आज्यं श्रद्धा वाव अग्निः** आदि ब्राह्मण-वाक्यों में आज्य-घृत को सत्य का प्रतीक तथा अग्नि को श्रद्धा का प्रतीक प्रतिपादित करते हैं। इसी प्रतीकात्मकता के आधार पर वे दर्श-पौर्णमास को उत्तम सन्तान प्राप्ति का उपाय मानते हैं तथा अन्तिम याग-नरमेध को श्मसानान्त कर्म प्रतिपादित करते हैं।

प्रतीक शैली के द्वारा मन्त्रों के दुरूह भावों की प्रसंगानुरूप अभिव्यक्ति सहजतया की जा सकती है। प्रतीक एवं व्यञ्जना का प्रगाढ़ सम्बन्ध है। इसी के आधार पर वेदमन्त्रों के आध्यात्मिकतादि विविध अर्थ किये जा सकते हैं। मानव जीवन की यज्ञमयता- **अयं खलु क्रतुमयः पुरुषः।**[५] यह जो जीवनयज्ञ की गति है- चलते हुए ही यह इस जगत् को पवित्र कर देता है- "**एष ह वै यज्ञ योऽयं पवते, एष ह यन्निदं सर्वं पुष्णाति।**[६]

इसी क्रम में जीवन के प्रारम्भ के ३४ वर्ष प्रातःसवन, आयु का द्वितीय भाग माध्यन्दिन-सवन तथा तृतीय भाग ४८ वर्षों तक तृतीय-

---

[४] श्रौतयज्ञों का संक्षिप्त परिचय पृष्ठ-९

[५] छान्दोग्योपनिषत् ३/१४/१

[६] वही ३/१६/१-७

सवन के रूप में वर्णित है।

इस तथ्य का षड्विंश ब्राह्मण के प्रथम अध्याय के तृतीय खण्ड में सविस्तार विवेचन किया गया है। यहां प्रातःसवन में प्रयुक्त विविध छन्दों के उपयोग की प्रतीकात्मकता के रहस्यों को स्पष्ट करते हुए कहा गया है-

एकच्छन्दः प्रात:सवनं तस्मादेकपात् पुरुषो हरत्यन्यं प्रेत्यन्येन तिष्ठति।[७] प्रात:सवन- एकच्छन्द गायत्री छन्द वाले ही हैं, वहिष्पतमानीय आज्यस्तोत्रीय सभी मन्त्र गायत्री छन्द के हैं, **छन्दः पादौ तु वेदस्य**- छन्द पादस्थानीय हैं। इसलिए पुरुष भी एकपात् है। पुरुष तो साक्षात् द्विपात् है- **श्रूयते च द्विपाद्वै पुरुषः।**[८]

पुनः एकपाद कैसे हुआ? इसको स्पष्ट करते हुए कहा गया है- **हरत्यन्यं प्रेत्यन्येन तिष्ठति**- मनुष्य जाता हुआ सामने एक ही पैर उठाकर रखता है- दूसरे पैर से भूमि पर स्थित रहता है- **चलत्येकेन पादेन तिष्ठत्येकेन बुद्धिमान्।** यह वचन भी उक्त तथ्य को इंगित कर रहा है।

माध्यन्दिन सवन त्रिच्छन्दा होता है -इसमें जो पवमान मन्त्र प्रयुक्त होते हैं, उसमें गायत्री, बृहती एवं त्रिष्टुप् छन्दों का प्रयोग होता है- इसलिए पुरुष के अध: तीन प्राण कार्य करते हैं- **त्रिच्छन्दा माध्यन्दिनः पवमानस्तस्मात् त्रयोऽधः प्राणाः।**[९]

तीन अध:प्राण कार्य करते हैं- १.मूत्रविसर्जनात्मक, २.पुरीषविसर्जनात्मक, ३. रेतोविसर्जनात्मक। ऐतरेय ब्राह्मण भी इसका अनुमोदन करता है - **त्रयोऽवाञ्चो रेतस्यो मूत्र्यः पुरीष्यः।**[१०]

---

[७] षड्विंश ब्राह्मण १/३//१

[८] ऐतरेय ब्राह्मण ५/२३/२

[९] षड्विंश ब्राह्मण १/३/२

[१०] ऐतरेय ब्राह्मण १/४/३

माध्यन्दिन सवन में दो सामों का प्रयोग होता है क्योंकि मनुष्य सामान्यतः ऊर्ध्वभाग से १.प्राण २.अपान दो प्राणों का प्रयोग करता है- **द्वे बृहत्यां सामनी, तस्माद् द्वयमुत्तरेण।**[११]

माध्यन्दिन सवन की त्रिष्टुप् छन्द वाली ऋचा में औशनाख्य एक ही साम प्रयुक्त होता है क्योंकि मनुष्य की एक ही नाभि है। सायण लिखते हैं- **नाभिरिव मध्यवर्त्ती प्राणः। न वै पुरुषे प्राणाः, नाभिर्दशमी।**[१२] वह प्राण एक ही है, दूसरे प्राणों के समान उसकी अन्य वृत्तियाँ नहीं हैं। नाभिगत प्राण ऊर्ध्व-अधोगत सभी प्राणों का विधृति-विधारिका है- **प्राणानामिव त्वं विधृतिः।**[१३] प्राणधारण ही उसका एक कार्य है।

इसको स्पष्ट करते हुए आचार्य सायण कहते हैं- पुरुषविधयज्ञ का प्रात:सवन-पादस्थानीय है। प्राणस्थानीय माध्यन्दिन पवमान है।[१४]

माध्यन्दिन पवमान से आगे जो स्तोम किए जाते हैं, वे सब मनुष्य के पृष्ठभाग के निर्देशक हैं- **अथ यदेव तत ऊर्ध्वं तानि पृष्ठानि।**[१५]

इसको विवृत करते हुए आगे कहते हैं- उक्त स्तोमादि बृहती छन्द के अन्तर्गत हैं, अतः पार्श्वस्थ अस्थियाँ पसलियाँ-बृहत्य एवं बड़ी होती हैं। पृष्ठावयव की अस्थियाँ "कीकस" आदि पृष्ठस्थान में जुड़ती हैं-बृहती, बृहद्रथन्तर आदि वामदेव्य नामक एक गायत्री से उत्पन्न हैं। सब पार्श्वस्थ अस्थियाँ भी पृष्ठस्थ कीकस अस्थि में सम्मिलित हो जाती हैं। इस क्रम में माध्यन्दिन पवमान में आगे जो स्तोत्र है, वह "आर्मवपवमान" कहलाता

---

[११] षड्विंश ब्राह्मण १/३/४

[१२] तैत्तिरीय ब्राह्मण १/३/७/४

[१३] षड्विंश ब्राह्मण १/३/६

[१४] सायणभाष्य वही १/३/६

[१५] वही १/३/७

है- **अथ यदेव तत ऊर्ध्वं स, आर्मवः पवमानः**[१६] और वह पुरुषविध यज्ञ का मुख है। मुख्य में सभी एकत्र सम्भृत हैं। मुख्य गायत्री आदि की प्राणरूपता को प्रकट करते हुए कहा है- **प्राणो गायत्री श्रोत्रे उष्णिक्ककुभौ वागनुष्टुप् चक्षुर्जगती।**[१७]

प्राणापानव्यानों से प्राण त्रिवृत कहलाता है। गायत्री भी त्रिपदा है अतः गायत्री की प्राण से साम्यता है। उष्णिक्, ककुभ श्रोत्र है, वाक् अनुष्टुप् है- **वाग्वै अनुष्टुप्।**[१८]

चक्षु जगती है। वहां अन्य प्रयुक्त अक्षरपङ्क्ति आदि छन्द गायत्री आदि छन्दों की ही पुष्टि हेतु हैं।

इस प्रकार छन्दों की पुरुष-यज्ञ से प्रतीकात्मकता दिखाकर सामों का शरीर से साम्य प्रकट करते हुए कुछ महत्त्वपूर्ण वार्ता की ओर संकेत किया गया है- **द्वे गायत्र्यां सामनी। तस्माद् द्वयं प्राणेन करोति। प्राणिति चापानिति च। एकं छन्दःककुवुष्णिहौ द्वे सामनी। तस्मात् समानं सत् श्रोत्रं द्वेधैव श्रृणोति। द्वे अनुष्टुभि सामनी। तस्माद् द्वयं वाचा करोति। सत्यं चानृतं च वदति। एकं जगत्यां नाम। तस्माद् द्वे अक्षिणी सती समानं पश्यतो न हि पश्चादायन्तं पश्यति।**[१९] गायत्री ऋचा में गायत्र एवं संहिताख्य दो साम प्रयुक्त होते हैं अतः पुरुष ऊर्ध्वभाग से प्राण, अपान दो क्रिया करता है। ककुप् एवं उष्णिक् दो होते हुए भी एक ही छन्द है, दोनों के अष्टाविंशत्यक्षरात्मक होने के कारण ककुभ छन्द में प्रथम एवं तृतीय पाद के अष्टाक्षर, द्वितीय पाद के द्वादशाक्षर होते हैं। उष्णिक् छन्द

---

[१६] सायण भाष्य १/३/९

[१७] सायण भाष्य १/३/१०

[१८] शतपथ- ब्राह्मण १/३/२/१५

[१९] षड्विंश ब्राह्मण १/३/१२

में प्रथम एवं द्वितीय पाद के अष्टाक्षर तथा तृतीय पाद में बारह अक्षर होते हैं, वहां सफ एवं पौष्कलाख्य दो साम प्रयुक्त होते हैं, क्योंकि पुरुष के दो कर्ण एक समान होते हैं इसको ब्राह्मणकार कहते हैं- **एकेनैव श्रोत्रेण द्वेधैव पुरस्तात्पश्चाच्छृणोति।**[२०]

अनुष्टुप् में श्यावाश्व एवं अयीगव नामक दो साम होते हैं। पुरुष भी एक ही वाणी से सत्य एवं अनृत दो प्रकार की वाणी कहता है।

जगती छन्द में कावाख्य एक ही साम प्रयुक्त होता है। अधिष्ठान भेद से दो आँखों के होते हुए भी अवैलक्षण्य भाव से एक ही सामने की वस्तु को देख पाते हैं पीछे की नहीं।

इससे आगे गायत्यादि से ऊर्ध्व है- वह यज्ञायज्ञीय मूर्धा है- **अथ यदेव तत ऊर्ध्वं मूर्धा तद्यज्ञायज्ञीयम्।** जो इस रहस्य को जानता है, वह अपने बन्धुवर्गों में मूर्धस्थानीय होता है- **मूर्धा स्वानां भवति य एवं वेद।**[२१]

इस प्रकार षड्विंश-ब्राह्मण में यज्ञों में प्रयुक्त विविध छन्दों के रहस्यों की प्रतीकात्मकता को विवृत करते हुए शरीर-विज्ञान के अनेक रहस्यों को प्रकट किया गया है। उपर्युक्त छन्दों के अक्षर-विस्तार का तत् छन्दों के सस्वर उच्चारण के द्वारा शरीर के विभिन्न प्राणों एवं अङ्गों में क्या प्रभाव हो सकता है? यह भी गवेषणीय है।

---

[२०] षड्विंश ब्राह्मण १/३/१३

[२१] षड्विंश ब्राह्मण १/३/१४

पाङ्क्तं ह्यन्नम्

डा. रामनारायण शास्त्री[१]

सामवेदीय ब्राह्मणग्रन्थों में विविध ज्ञान-विज्ञान विषय को लक्ष्य करके यह उपनिषद् चर्चा चल रही है। हम भी अपनी अल्पमति और ज्ञान के अनुसार ताण्ड्यमहाब्राह्मण के एक छोटे से वाक्य '**पाङ्क्तं ह्यन्नम्**'"[२] पर विचार-विमर्श करने के लिए आपके साथ उपस्थित हैं। इस वाक्य का सीधा सरल अर्थ है। पाँच प्रकार का अन्न है अथवा अन्न के पाँच प्रकार हैं। अन्न के प्रकारों पर विचार करने से पूर्व हम अन्न शब्द पर विचार करना अधिक उपयोगी मानते हैं। अन्न शब्द कैसे बनता है? अन्न किसको कहते हैं? अन्न के उपयोग अथवा उपभोग का प्रयोजन क्या है? इत्यादि प्रश्नों पर विचार-विमर्श करने से अन्न के प्रकारों का ज्ञान स्वत: ही सरलता से हो जाएगा।

अन्न शब्द भक्षण अर्थ वाले अव् (अव् भक्षणे) धातु से क्त प्रत्यय करने पर बनता है।[३] अद्यतेऽत्ति च भूतानि, तस्मादन्नं तदुच्यते।[४] जिसको

---

[१] **सहाचार्य, संस्कृत विभाग, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, सिरोही, राजस्थान**

[२] ताण्ड्यमहाब्राह्मण ५।२।७॥

[३] धातुपाठ २।१। अष्टाध्यायी सूत्रपाठ ३।२।१०२॥

[४] तै.आ. ८।२॥ तै. उप. २।२॥

हम सब प्राणी, प्राणी ही क्या भूतमात्र खाते हैं तथा जो भूतों को खाता है उसको अन्न कहते हैं। शरीर के प्रत्येक अवयव को स्वस्थ, प्रसन्न और जीवित रखना अन्न के उपयोग व उपभोग का प्रयोजन है। इस आधार पर प्राणन (जीवन) अर्थवाले अन (अन च) औणादिक न प्रत्यय करने पर अन्न शब्द बनता है।[५] अनिति जीवयतीति अन्नं ओदनादिकं वा। मुख से हम सब अन्न खाते हैं, अन्न का प्रयोग करते हैं; यह सभी जानते हैं। जब अन्न का प्रयोजन स्वस्थ, प्रसन्न और जीवित रखना है तब मुँह से प्रयोग करने मात्र से यह सम्भव नहीं। खाने के अतिरिक्त कभी हम बोलकर प्रसन्न होते हैं, कभी सुनकर स्वस्थ प्रसन्न होते हैं, कभी देखकर इत्यादि। इसका अभिप्राय यह है कि हम आँख, कान, नाक, मन, बुद्धि आदि बाह्य और अन्त:करण से जिसका प्रयोग स्वस्थ, प्रसन्न और जीवित रहने के लिए करते हैं वह सब अन्न है; साथ ही क्योंकि 'अन प्राणने' धातु से अन्न शब्द बना है इसलिए प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान ये सब भी अन्न ही हैं। इसी कारण वैदिक-वाङ्मय अन्न के अनेक प्रकार व नाम गिनाता है। यथा- त्रेधा विहितं वा इदमन्नमशनं पानं स्वदः।[६] त्रिवृद्वा अन्नं कृषिर्वृष्टिर्बीजम्।[७] इन दोनों वाक्यों में अन्न के अलग-अलग तीन प्रकार बताए हैं। इसके अतिरिक्त अन्न को प्राण-अपान, जीवन-मृत्यु, जरावस्था (जरस्) और प्रजाओं का प्रजनन भी कहा गया है -

अन्नं प्राणमन्नमपानमाहुः अन्नं मृत्युं तमु जीवातुमाह।
अन्नं ब्राह्मणे जरसं वदन्ति अन्नमाहुः प्रजननं प्रजानाम्॥[८]

---

[५] धातुपाठ २।६३॥ उणादिसूत्रपाठ ३।१०॥

[६] ऐ.आ. २।३।४॥ तु.मा.श.ब्रा. ८।५।३।३॥

[७] मा.श.ब्रा. ८।६।२।२॥

[८] तै. ब्रा. २।८।८।३॥

अन्न को प्राण करने के साथ ही यह ग्रह भी कहा गया है क्योंकि प्राण अन्न के द्वारा गृहीत है; जो भी अन्न खाता है वह जीवित रहता है तथा प्राण के द्वारा अन्न गृहीत है क्योंकि जो जीवित रहता है वह अन्न खाता है। अन्नं प्राण:।[९] अन्नं हि प्राण:।[१०] तस्मात्प्राणोऽन्नेन गृहीतो यो ह्येवान्नमत्ति स प्राणिति।[११] तस्मात् प्राणेनान्नं गृहीतं यो ह्येव प्राणिति सोऽन्नमिति।[१२] और इसी कारण अन्न को अनेक रूप वाला विरूप=विविध रूप वाला कहा गया है - विरूपमन्नम्।[१३]

ताण्ड्यमहाब्राह्मण में 'पाङ्क्तं ह्यन्नम्' 'पाङ्क्तमन्नम्' तीन स्थलों पर प्रयुक्त हुआ है। (अ) राजनम्महाव्रतं कार्यम्। एतद् वै साक्षादन्नं यद् राजनं पञ्चविधं भवति। पाङ्क्तं ह्यन्नम्।[१४] (आ) पञ्चनिधनं भवति पाङ्क्तं ह्यन्नम्।[१५] (इ) पञ्चर्चो भवति पञ्चपदा पङ्क्ति: पाङ्क्तमन्नमन्नाद्यस्यावरुध्यै।[१६] राजन, निधन आदि सामगान के प्रकार हैं। ये गान पाँच प्रकार के होने चाहिए क्योंकि अन्न पाँच प्रकार का है ऐसा कहकर ताण्ड्यमहाब्राह्मण में प्रशंसापरक वाक्य के रूप में इनका प्रयोग किया गया है। इसे ब्राह्मणग्रन्थों की भाषा में अर्थवाद कहते हैं। सायणाचार्य 'पाङ्क्तं ह्यन्नम्' का भाष्य करते हुए अन्न के अश्य, खाद्य,

---

[९] तै.ब्रा. ३।२।३।४॥

[१०] मा.श.ब्रा. ३।८।४।८॥ ४।३।४।२५॥

[११] मा.श.ब्रा. ७।५।१।१६॥

[१२] मा.श.ब्रा. ४।६।५।४॥

[१३] ता.ब्रा. १४।९।८॥

[१४] ता.ब्रा. ५।२।७॥

[१५] ता.ब्रा. ५।२।१३॥

[१६] ता. ब्रा. १२।१।९॥

चोष्य, लेह्य और पेय से पाँच प्रकार गिनाते हैं - अन्नं हि पाङ्क्तं पङ्क्तिसम्बद्धं अश्यं खाद्यं चोष्यं लेह्यं पेयमिति अतो राजनस्य पञ्चविधत्वात् पञ्चविधान्नरूपत्वम्।[१७] ऐतरेयारण्यक पाङ्क्तं न कहकर 'पङ्क्तिर्वा अन्नम्'[१८] कह रहा है।

जैसा कि हमने पहले कहा कि अन्न प्रयोग का प्रयोजन स्वस्थ, प्रसन्न और जीवित रहा है अत: इस प्रक्रिया के लिए जिसका भी प्रयोग किया जा रहा है वह अन्न है। इस अन्न को खाने के अर्थात् संसार के पदार्थों का उपयोग या उपभोग करने के साधन जीव के पास एकोनविंशति = उन्नीस हैं, इसलिए माण्डूक्योपनिषद् के अनुसार उसे एकोनविंशति मुख[१९] = उन्नीस मुख वाला कहा जाता है। पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण ये पन्द्रह बाह्यकरण तथा चार अन्त: करण (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार), ये उन्नीस मुख हैं, साधन हैं जिनके द्वारा मानव संसार के पदार्थों का (अन्न) का प्रयोग स्वस्थ, प्रसन्न और जीवित रहने के लिए करता है।

ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा उपयोग, उपभोग किये जाने के कारण अन्न पाँच प्रकार का है तथा कर्मेन्द्रियों के द्वारा प्रयोग के कारण भी अन्न के पाँच प्रकार हैं और पाँच प्राणों से प्रयोग किये जाने से भी पाँच प्रकार का है। अभी कुछ समय पूर्व हमने तैत्तिरीय ब्राह्मण का एक वाक्य उद्धृत किया जिसके अनुसार प्राण-अपान को, जीवन-मृत्यु को, जरस् और प्रजाओं के प्रजनन को अन्न कहा है। इस वाक्य से भी यह सिद्ध है कि

---

[१७] ता.ब्रा. ५।२।७ पर सायणाचार्य भाष्य॥

[१८] ऐ.आ. १।३।८। ऐ. ब्रा. ६।४।४॥

[१९] एकोनविंशतिमुख: स्थूलभूक् वैश्वानर: प्रथमपाद:। मा.उप. ३॥

ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और प्राण के कारण भी अन्न के पाँच-पाँच प्रकार हैं।

ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त होने वाला अन्न हमें स्वस्थ, समृद्ध और प्रसन्न करता है क्योंकि वह ज्ञानरूप अन्न हमें अलग-अलग पाँच ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त होता है इसलिए पाँच प्रकार का है। यथा चक्षु इन्द्रिय से ग्रहण होने वाला ज्ञानरूप अन्न चाक्षुष अन्न है, श्रवण इन्द्रिय से प्राप्त होने वाला ज्ञानरूप अन्न श्रवण अन्न है, इसी प्रकार घ्राण अन्न, रासन अन्न, त्वाच अन्न हैं। ये अन्न मानव जीवन के अपरिहार्य अन्न हैं, इसीलिए आर्यभाषा में यह उदाहरण प्रसिद्ध है कि वह एकटक ऐसे देख रहा है मानो आँखों से पीये जा रहा हो। यहाँ इस उपनिषद् में भी हम सब श्रावण, चाक्षुष अन्न ग्रहण कर ही रहे हैं, साथ में कर्मेन्द्रिय वाक् का अन्न भी काम में लाया जा रहा है। कर्मेन्द्रियों में जिसको हम सब पाणि=हाथ के रूप में जानते हैं सारा आदान-प्रदान, जिस किसी भी पदार्थ का आदान-प्रदान उसी के द्वारा होता है और कई बार तो ऐसा प्रतीत होता है मानो सारा अन्न हमें इसी के द्वारा प्राप्त हो रहा है। किसी भी पदार्थ, तत्त्व अथवा ज्ञान को करने के लिए हमें गति करनी होती है। गति पाद नामक कर्मेन्द्रिय का धर्म है अत: हमें स्वस्थ, प्रसन्न रहने के लिए, जीवन को गति प्रदान करने के लिए गति नामक अन्न पैरों से ही प्राप्त होता है। कर्मेति हस्तयो:। गतिरिति पादयो:।[२०]

'अन्नमाहु: प्रजननं प्रजानाम्' कहकर तैत्तिरीय ब्राह्मण जिस प्रजनन को प्रजाओं का अन्न कह रहा है, उसी तथ्य को सांख्यदर्शन उत्सर्ग प्रजनन और आनन्द के रूप में बताते हुए उपस्थेन्द्रिय का कर्म कह रहा है। यह भी स्वस्थ प्रसन्न रहने के लिए आवश्यक अन्न है जो

---

[२०] तै.आ. ९।१०।२॥ तै.उप. ३।१०।२॥

उपस्थेन्द्रिय के कारण प्राप्त होता है।[२१] सन्तति का जन्म प्रसन्नता व वंशवृद्धि का कारण है जीवित रहने का, जीवन का, जीता जागता प्रत्यक्ष उदाहरण है। पायु=गुदा इन्द्रिय से मलत्याग भी हमारी प्रसन्नता का कारण बनता है। त्याग का अर्थ दान देना भी होता है। जिस प्रकार व्यक्ति ग्रहण करके=लेकर के स्वस्थ व प्रसन्न होता है उसी प्रकार और कहीं उससे भी अधिक व्यक्ति दान देकर प्रसन्न होता है। महाराज भर्तृहरि के अनुसार हाथ तथा शरीर की शोभा दान तथा परोपकार से ही होती है- दानेन पाणिर्न तु कङ्कणेण विभाति काय: करुणापराणां परोपकारैर्न तु चन्दनेन।[२२] श्रावण व चाक्षुष से तो प्रसन्नता होती ही है पर जब कोई व्यक्ति अपने पूर्वजों के द्वारा, सन्तति के द्वारा अथवा स्वयं के किये कार्य से जनसाधारण या प्राणिमात्र किसी को भी लाभान्वित होते हुए सुनता व देखता है तब तथा अपनी सन्तति, पूर्वज या स्वयं की यश:पताका को सुनता और देखता है उस समय जो प्रसन्नता होती है वह किसी भी भौतिक अन्न की अपेक्षा अधिक स्वास्थ्य, प्रसन्नता और जीवन प्रदान करने वाली होती है। इस प्रकार ज्ञानेन्द्रियों से तथा कर्मेन्द्रियों से प्राप्त होने के कारण अन्न पाँच-पाँच प्रकार का है। ब्राह्मण ग्रन्थ सात प्रकार के अन्न की बात कहते हैं- सप्त वा अन्नानि।[२३] सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत् पिता।[२४]

शतपथ ब्राह्मण सात प्रकार के अन्नों का व्याख्यान करते हुए वाक् मन प्राण को भी अन्न कहता है। इसी प्रकरण में प्राण, अपान, व्यान,

---

[२१] सांख्यकारिका २८॥

[२२] नीतिशतक

[२३] तै.ब्रा. १।३।८।१॥

[२४] मा.श.ब्रा. १४।४।३।८॥ का.श.ब्रा. १७।१।५।३॥

उदान समान नामक प्राण को अन्न कहता है। त्रीण्यात्मनेऽकुरुतेति मनो वाचं प्राणं तान्यात्मनेऽकुरुत। प्राणोऽपानो व्यान उदान: समानोऽत इत्येतत्सर्वं प्राण एव।[२५] इस प्रकार प्राण पाँच होने के कारण प्राणारूप अन्न भी पाँच प्रकार का है। ताण्ड्यमहाब्राह्मण सामगान के प्रसङ्ग में 'पाङ्क्तं ह्यन्नम्' वाक्य कहता है। सामगान किसी के भी द्वारा अपनी प्रसन्नता के लिए प्रभु की स्तुति प्रार्थना के रूप में किया जाता है, वह प्राण के बिना सम्भव नहीं, इसलिए ब्राह्मण ग्रन्थ कहते हैं- प्राणै: साम गीयते।

सामवेदीय जैमिनीय ब्राह्मण अलग-अलग स्थानों पर चार बार अन्न को महाव्रत कहता है।[२६] अब कुछ चर्चा इस पर भी कर लेते हैं। तैत्तिरीयारण्यक में अन्न विषयक चर्चा है, विचार-विमर्श है। वहाँ कहा गया है कि अन्न की निन्दा नहीं करनी चाहिए, अन्न का अनादर नहीं करना चाहिए। अन्न को बहुत करना है, अन्न को बढाना है, इस बात का सबको व्रत लेना चाहिए। वहाँ प्राण, जल और पृथिवी को अन्न कहा है। इसका अर्थ है कि प्राण, जल और पृथिवी अन्न रूप हैं, इनकी निन्दा अपमान न करके इन्हें बढाने के लिए सभी को व्रती बनाना चाहिए। ऐसा व्रत जो करता है वह प्रजा पशु और ब्रह्मतेज के द्वारा महान् होता, महायशस्वी होता है। अन्नं न निन्द्यात् तद्व्रतम्। प्राणो वा अन्नं शरीरमन्नादम्। अन्नं न परिचक्षीत तद्व्रतम्। आपो वा अन्नं ज्योतिरन्नादम्। अन्नं बहु कुर्वीत तद्व्रतम्। पृथिवी वा अन्नमाकाशोऽन्नाद:। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या।[२७] वहाँ आगे इसी चर्चा को आगे बढाते हुए कहा है कि यह जो कुछ अन्न के विषय में कहा गया है

[२५] मा.श.ब्रा. १४।४।३।१०॥ का.श.ब्रा. १७।१।५।३॥

[२६] जै.ब्रा. २।३०३॥ २।३०७॥ २।३१९॥ २।३५४॥

[२७] तै.आ. ९।७-९॥ तै.उप. ३।७-९॥

यह सभी शास्त्रीय आदेश अथवा आज्ञा मनुष्यों के लिए है- इति मानुषी: समाज्ञा:।[२८] आरण्यक की इस आज्ञा का अभिप्राय है कि व्यक्ति बाह्य और अन्त:करण से प्राप्त होने वाले अन्न का सदुपयोग करने पर महान् बनता है। अन्न के सदुपयोग के कारण महान् बना अत: अन्न महाव्रत है। ताण्ड्यमहाब्राह्मण अन्न के महाव्रत होने के कारण लिखता है कि प्रजापति महान् है उसका व्रत अन्न ही है अर्थात् अन्न की वृद्धि करना है। इसलिए अन्न महाव्रत है- प्रजापतिर्वाव महाँस्तस्यैतद् व्रतमन्नेव।[२९] तैत्तिरीयारण्यक में अन्न को ही साक्षात् महान् कहते हुए बताया है कि अन्न के कारण ही सभी प्राण महत्त्वशाली हैं महान् हैं- मह इत्यन्नम्। अन्नेन वाव सर्वे प्राणा महीयन्ते।[३०] इस प्रकार अन्न महान् है। अत: अन्न का व्रत अर्थात् अन्न के लिए किया जाने वाला व्रत, सकल्प महान् एतावता अन्न महाव्रत है।

कोई भी कार्य या व्रत महाव्रत क्यों होता है? इस पर कुछ चर्चा के बाद अपनी वागिन्द्रिय से प्रसारित किये जा रहे एक प्रकार के अन्न के प्रसार को विराम देंगे। ऐतरेयारण्यक के अनुसार इन्द्र ने वृत्र का हनन करके सर्वसाधारण को कष्ट से मुक्ति दिलाने का जो महान् कार्य किया उससे वह (इन्द्र) महान् हो गया और उसका यह सर्वसाधारण को सुख देने का कार्य महाव्रत बन गया, यही महाव्रत का महाव्रतत्व है- इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा महानभवद्यन्महानभवत् तन्महाव्रतमभवत्तन्महाव्रतस्य महाव्रतत्वम्।[३१] सामवेदीय जैमिनीय ब्राह्मण के अनुसार महान् के व्रत धारण या स्वीकार करना ही व्रत का महाव्रतत्व है- ता यदब्रुवन्महते व्रतं

---

[२८] तै.आ. १०।१।२॥ तै.उप. ४।१२॥

[२९] ता.ब्रा. ४।१०।२॥

[३०] तै.आ. ७।५।३॥ तै.उप. १।५।३॥

[३१] ऐ.आ. १।१।१॥

हराम इति तन्महाव्रतस्य महाव्रतत्वम्।[३२] शतपथ ब्राह्मण का कहना है कि प्राण ही महान् है अन्न ही उसका व्रत है और सामगान की दृष्टि से वही महाव्रत है- प्राण एव महाँस्तस्यान्नमेव व्रतं तन्महाव्रतं सामतः।[३३] तैत्तिरीय ब्राह्मण की दृष्टि में महान् व्रत ही महाव्रतत्व का कारण है- महद् व्रतमिति तन्महाव्रतस्य महाव्रतत्वम्।[३४] ताण्ड्यमहाब्राह्मण के अनुसार देवों ने मनुष्यों से कहा कि प्रजापति की प्रीति व तृप्ति के लिए जो महान् व्रत धारण किया वही महाव्रत का महाव्रतत्व है- **महान्मर्या व्रतं यदिममधिन्नीदिति तन्महाव्रतस्य महाव्रतत्वम्।**[३५] शतपथ की दृष्टि में निश्चय ही सभी सामगान महाव्रत हैं- **सर्वाणि हैतानि सामानि महाव्रतम्।**[३६]

---

[३२] जै.ब्रा. २।४०९॥

[३३] मा.श.ब्रा. १०।४।१।२३॥

[३४] तै.ब्रा. १।२।६।१२॥

[३५] ता.ब्रा. ४।१०।१॥

[३६] मा.श.ब्रा. १०।१।१।५॥

जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मणे सामप्रवचनपरम्परा

डा. पराम्बाश्रीयोगमाया[१]

सामवेदाध्ययनपरम्परां नैरन्तर्येण प्रचालयमानानां सम्प्रदायप्रवर्त्तकानामृषीणामाचार्याणां नामावलीद्वयं जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मणे उपलभ्यते। गायत्र - साम - परम्परासूच्यां पञ्चाशन्नामानि तथा गायत्रस्योद्गीथोपनिषद्परम्परायां षोडशनामानि उपलभ्यन्ते। अस्मिन् परम्पराद्वये पठितानामाचार्याणां परिचितये चेष्टामात्रमस्य शोधपत्रस्याभिलक्ष्यम्।

उपक्रमः

गायत्रसाम्नः सविस्तृतं वर्णनाकारणात् सामवेदस्य जैमिनीयशाखासम्बन्धितं जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मणं गायत्र्युपनिषद्ब्राह्मणापि परिचीयते। तवलकारशाखानुयायिहेतोरस्य नामान्तरं तवलकारब्राह्मणमपि। तवलकारऋषेर्नामानुसारं तवलकारशाखाया नामकरणम्। महर्षिपाणिनिना 'शौनकादिभ्यश्छन्दसि'[२] इति गणे तवलकारशब्दः पठितः। तवलकारशाखा जैमिनीयशाखाया अवान्तरशाखा यया सह केनोपनिषद् सम्बन्धिता। बृहज्जैमिनीयब्राह्मणस्य

---

[१] **सहायकाचार्या, स्नातकोत्तरवेदविभागः, श्रीजगन्नाथसंस्कृतवि.वि., पुरी - ओडिशा**

[२] अष्टाध्यायी ४/ ३/ १०६

जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मणमंशमात्रम्।

सामान्यतया ब्राह्मणग्रन्थाः कर्मणां तत्सम्बन्धिमन्त्राणां तथा तत्सम्बन्धिप्रतीकाणां व्याख्यानग्रन्थाः। हेतु - निर्वचन - निन्दा - प्रशंसा - संशय - विधि - परक्रिया - पुराकल्प - व्यवधारणकल्पना - उपमानाख्या दश विधयो ब्राह्मणग्रन्थस्य प्रतिपाद्यविषयाः। एतत्सर्वं यागप्रक्रियां केन्द्रीकृत्य परिवर्ण्यते। परन्तु जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मणं न तथैव यागविधिभिः सह विजडितं परिदृश्यते। ओंकारस्य रहस्यप्रख्यापने तथा वैशिष्ट्यप्रतिपादने एवं गायत्रीसाम्नः परिवर्णने च ब्राह्मणस्यास्य विषयविस्तारः। पराभौतिकं दार्शनिकञ्च ब्राह्मणस्यास्य विषयाः। अतः प्रकृत्यौपनिषदीयं ब्राह्मणमिदम्।[३] अतोऽस्य ब्राह्मणस्य सममेव प्राधान्यं वर्तते धर्मस्य दर्शनस्य तथाध्यात्मस्याध्येतृणां कृते।

समुपलब्धेषु त्रयोदशसामवेदीयब्राह्मणेषु ब्राह्मणमिदं सर्वप्राचीनं प्रतिभाति। समग्रब्राह्मणसाहित्ये लीलया ग्रन्थोऽयं भाषा - शब्दावली - वैयाकरणरूपाख्यानादिदृष्ट्या प्राचीनतरब्राह्मणश्रेण्यां समावेशनायार्हः।

सामशब्दस्य द्विविधार्थे प्रयोगः प्राप्यते। ऋचामुपरि गीयमानं गानमेव साम इति। पुन ऋचां कृतेऽपि सामशब्दस्य प्रयोगोऽवाप्यते। सामसंहितायाः संकलनमुद्गातुः कृते इति। उद्गाता देवस्तुतिपरकमन्त्रान् यथारूपं विविधैः स्वरैर्गायति। अतः साम्नामाधार ऋच एव।[४]

विविधसाम्नामभिधानं वेदेषु प्राप्यते। ऋग्वेदे वैरूप - बृहत् - गायत्र - भद्रादीनां साम्नां नामान्युपलभ्यन्ते। यजुर्वेदे रथन्तर - वैराज - वैखानस

---

[३] ...the book is more of the nature of an Upaniṣad, the secret doctrine, than of a Brahmana, theological treatise which deals with ritual dogmas and sacrificial formulas. (Sharma, B. R. *Jaiminīya Ārṣeya - Jaiminīya Upaniṣad Brāhmaṇas*, p. १९)

[४] ऋचि अध्यूढं साम ...। (छा. उ. १. ६. १)

- वामदेव्य - शाक्वर - रैवत - अभीवर्तेति नामानि तथा ऐतरेयब्राह्मणे नौधस - रौरययौधाजय - अग्निष्टोमीयादीनां नामानि निर्दिष्टानि प्राप्यन्ते। निरुक्तस्य सप्तमाध्याये तिसृणां देवानां भक्तिसाहचर्यवर्णनकाले रथन्तर - बृहत् - वैरूप - वैराज - शाक्वर - रैवत - साम्नां वर्णना त्रयाणां त्रयाणां व्यवधानेन क्रमशः पृथिव्यन्तरीक्षद्युस्थानीयदेवभक्तीनीति[५] वर्णनं प्राप्यते। अत ऋग्वेदकालात् सामप्रकारभेदस्तथा विविधसामगानस्य प्रवर्त्तनं जातमस्तीति वक्तुं शक्यते।

सामप्रवचनपरम्परा

महाभारतस्य[६] तथा श्रीमद्भागवतमहापुराणस्य परिशीलनादेतत् सुस्पष्टं यत् कृष्णद्वैपायनेन मन्त्रसमुदायस्य प्रकरणभेदात् चतुर्धा विभाजनं कृतं तथा चतुर्भ्यः शिष्येभ्यः प्रदत्तम्। बहवृचाख्यां प्रथमामृक्संहितां पैलाय निगदाख्यां द्वितीयां यजुःसंहितां वैशाम्पायनाय सामश्रुतीनां छन्दोगसंहितां जैमिनये तथाथर्वाङ्गिरससंहितां सुमन्तवे प्रादात्[७]। सामसूत्रधरो महर्षिजैमिनिः स्वपुत्राय सुमन्तवे तथा पौत्राय सुन्वने एकैकां शाखां पाठितवान्। तस्य महच्छिष्यः सुकर्मा एव सामवेदस्य सहस्रसंहिताभेदं चकार।

सुकर्मा चापि तच्छिष्यः सामवेदतरोर्महान्।
सहस्रसंहिताभेदं चक्रे साम्नां ततो द्विजः॥[८]

---

[५] निरुक्तम् ७. ३.८ - ११

[६] वेदान् विव्यास यस्मात्स वेदव्यास इतीरितः। तपसा ब्रह्मचर्येण व्यस्य वेदान् महामतिः॥ (महाभारतम् १.२.)

[७] पैलाय संहिताद्यां बहवृचाख्यामुवाच ह। वैशम्पायनसंज्ञाय निगदाख्यं यजुर्गणम्॥
साम्नां जैमिनये प्राह तथा छन्दोगसंहिताम्। अथर्वाङ्गिरसां नाम स्वशिष्याय सुमन्तवे॥
(श्रीमद्भागवतम् १२.६.५२ - ५३)

[८] श्रीमद्भागवतम् १२.६.७६

सुकर्मार्ऋषेः शिष्येषु कोसलदेशनिवासी हिरण्यनाभः पौष्यञ्जिः ब्रह्मवित्शिष्येषु आवन्त्यः ताः शाखाः गृहीतवन्तः। पौष्यञ्जेः आवन्त्यस्य च पञ्चशतशिष्या आसन्। ते उदीच्यास्तथा प्राच्याः सामगा इति ख्याताः।

लौगाक्षिः माङ्गलिः कुल्यः कुसीदः कुक्षिः इत्येते पौष्यञ्जिशिष्याः शतं शतं संहिता गृहीतवन्तः। सहस्रवर्त्मनः सामवेदस्य एवं प्रसारो जातः। हिरण्यनाभः कृतनामधेयाय स्वशिष्याय चतुर्विंशतिसामसंहिताः पाठयामास। शेषाः संहिता आत्मवान् आवन्त्यः स्वशिष्येभ्यः प्रायच्छत्।[९]

सामवेदाध्ययनपरम्पराया नामावलीद्वयं जैमिनीयशाखासम्बन्धिते जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मणे समवाप्यते। (क) गायत्र - साम - परम्परायां पञ्चाशन्नामानि (जै.उ.ब्रा. ३.७.३-५) तथा (ख) गायत्रस्य उद्गीथोपनिषद् - परम्परायां षोडशनामानि (जै.उ.ब्रा. ४.९.१-२) इति।

आद्या सूची तेषामाचार्याणां नामानि परिगणयति यैरमृतगायत्रसामपरम्परायां शिष्यप्रशिष्येषु अनुक्रमितानि जातानि। द्वितीया सूची तेषामृषीणां नामानि पठति यैरमृतगायत्रगानस्य रहस्योद्गीथ-परम्परायां प्रचलितानि दृश्यते। सूचीद्वयेन सह वंशब्राह्मणे[१०] तथा शतपथब्राह्मणे[११] प्रदत्ताया आचार्यपरम्परायाः किञ्चित् साम्यं वर्त्तते। परन्तु भिन्नवेदसम्बन्धिनामृषीणां नामसु यत् साम्यं परिलक्ष्यते तदेकमेवाचार्यं संकेतयत्यथवा देशकालपात्रवशात् भिन्नं व्यक्तिविशेषं सूचयति तदनुसन्धानसापेक्षम्। एतादृशऋषिवंशवर्णनं शांखायनारण्यकेऽपि[१२] अवाप्यते।

---

[९] श्रीमद्भागवतम् १२. ६. ७७ - ८०

[१०] वं. ब्रा. ३. १ - १५

[११] श. ब्रा. १०. ६. ५. ९ तथा १४. ९. ४. ३० - ३३ ; बृ . उ. ६. ५. १ - ४

[१२] शां. आ. १५

गायत्रसामपरम्परा

जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मणे पठितसूचीद्वये सामपरम्परा देवप्रतिनिधेः समीपात् ऋषिप्रतिनिधये समागतास्ति। जैमिनीयोपनिषदः प्रथमसूच्यां गायत्रसामपरम्परायाः प्रारम्भो ब्रह्मणः समारब्धोऽस्ति तथा पञ्चाशद्दृषिषु संक्रान्तो भूत्वा दार्ढजयन्तगुप्तलौहित्यं यावत् प्रचलितास्ति। गायत्रसामपरम्परा एतादृशी -

१. ब्रह्म
२. प्रजापतिः
३. परमेष्ठी प्राजापत्यः
४. देवः सविता
५. अग्निः
६. इन्द्रः
७. काश्यपः
८. ऋश्यशृङ्गः काश्यपः
९. देवतराः श्यावसायनः काश्यपः
१०. श्रुषः वान्हेयः काश्यपः
११. इन्द्रोतः दैवापः शौनकः
१२. दृतिः ऐन्द्रोतिः शौनकः
१३. पुलुषः प्राचीनयोग्यः
१४. सत्ययज्ञः पौलुषिः प्राचीनयोग्यः
१५. सोमशुष्मः यात्ययज्ञिः प्राचीनयोग्यः
१६. हृत्स्वाशयः आल्लकेयो माहावृषो राजा
१७. जनश्रुतः काण्ड्वियः
१८. सायकः जानश्रुतेयः काण्ड्वियः

१९. नगरी जानश्रुतेयः काण्ड्वियः
२०. शङ्खः शाट्यायनिः आत्रेयः
२१. रामः क्रातुजातेयो वैयाघ्रपद्यः
२२. शङ्खः बाभ्यव्यः
२३. दक्षः कात्यायनिः आत्रेयः
२४. कंसो वारकिः
२५. प्रोष्ठपदः वारक्यः
२६. कंसो वारक्यः
२७. जयन्तः वारक्यः
२८. कुबेरः वारक्यः
२९. जयन्तः वारक्यः
३०. जनश्रुतः वारक्यः
३१. सुदत्तः पाराशर्यः
३२. अषाढ उत्तरः पाराशर्यः
३३. विपश्चित् शकुनिमित्रः पाराशर्यः
३४. जयन्तः पाराशर्यः
३५. श्यामजयन्तः लौहित्यः
३६. पल्लिगुप्तः लौहित्यः
३७. सत्यश्रवा लौहित्यः
३८. कृष्णधृतिः सात्यकिः
३९. श्यामसुजयन्तः लौहित्यः
४०. कृष्णदत्तः लौहित्यः
४१. मित्रभूतिः लौहित्यः
४२. श्यामजयन्तः लौहित्यः

४३. त्रिवेदः कृष्णरातः लौहित्यः

४४. यशस्वी जयन्तः लौहित्यः

४५. जयकः लौहित्यः

४६. कृष्णरातः लौहित्यः

४७. दक्षजयन्तः लौहित्यः

४८. विपश्चित् दृढजयन्तः लौहित्यः

४९. विपश्चितः दार्ढजयन्तिः दृढजयन्तः लौहित्यः

५०. वैपश्चितः दार्ढजयन्तिः गुप्तः लौहित्यः

जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मणस्य एतैः ऋषिनामभिः सह वंशब्राह्मणे पठितानि कतिपयानि ऋषिनामानि समतां नयन्ति। तत्र एकोनषष्ठिः आचार्याणां नामानि पठितानि सन्ति। यदि एतयोर्ब्राह्मणयोः पठितं समानं नाम एकमेवाचार्यं सूचयेत् तर्हि तत्तस्य शाखाद्वये (जैमिनये तथा कौथुमे) प्रावीण्यं द्योतयति। पञ्च नामानि एवं सन्ति- सत्ययज्ञः काण्ड्वियः शाट्यायनिः शौनकः तथा वैयाघ्रपादः। पुनरत्र पठितं 'शौनक' इति नाम अथर्वस्य शौनकोऽथवा सः भिन्नः आचार्य इत्यपि गवेषणाया विषयः।

जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मणानुसारममृतगायत्रगानेन प्रजापतिः अमृतत्वमवाप्नोत्। एवं देवास्तथा ऋषयः। यथा - 'तदेतदमृतं गायत्रम्। एतेन वै प्रजापतिरमृतत्वमगच्छत्। एतेन देवाः। एतेनर्षयः'॥ (जै.उ.ब्रा. ३.७.३.१)

गायत्रसाम्नः श्रेष्ठत्वं दिव्यत्वञ्च प्रख्यापयन्ती तृतीयाध्यायस्यान्तिमा श्रुतिर्गायत्रसाम एवामृतं तथान्यानि गीतानि काम्यानि इहलोककामनापूरकाणीति वर्णयति।[१३]

---

[१३] तदेतदमृतं गायत्रम्। अथ यान्यन्यानि गीतानि काम्यान्येव तानि। जै.उ.ब्रा. ३.७.५.१७

गायत्रस्य उद्गीथोपनिषद्परम्परा

जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मणस्य द्वितीया सूची एकस्मिन् आख्यानप्रसङ्गे चर्चितास्ति। एकदा ऋषयः एकं सत्रमासां चक्रिरे। ते बहुभिः उपक्रमैः स्वर्गस्य द्वारावाप्तेरुपायं न स्थिरीकृतवन्तः।[१४] ते ऋषयः परिश्रमेण तपसा व्रताचरणेन च इन्द्रं सम्प्राप्तवन्तः।[१५] ते इन्द्राय तेषामभिप्रायं विज्ञाय आर्तिराहित्यस्वर्लोकप्राप्त्युपायोपदेशाय प्रार्थितवन्तः। इन्द्रस्तेषु आचार्येषु ज्येष्ठमगस्त्यं समाहूय गायत्रसाम्नोऽमृतोद्गीथगानरहस्यमुपदिष्टवान् यद् अग्नि - वायु - आदित्य - प्राणान्नतत्त्वेषु प्रच्छन्नमासीत्।

तस्मा एतं गायत्रस्योद्गीथमुपनिषदममृतमुवाचाग्नो वायावादित्ये प्राणेऽन्ने वाचि। (जै. उ. ब्रा. ४. ८. ५. २)

अगस्त्यऋषिमाध्यमेन गायत्रसाम्नः उद्गीथगानरहस्यं परम्परयाग्रे प्राचलत्। द्वितीया सूची एवम् -

१. इन्द्रः
२. अगस्त्यः
३. इषः श्यावाश्विः
४. गौषूक्तिः
५. ज्वालायनः
६. शाट्यायनी
७. रामः क्रातुजातेयः वैयाघ्रपद्यः
८. शङ्खः बाभ्रव्यः
९. दक्षः कात्यायनिः आत्रेयः

---

[१४] ऋषयो ह स सत्रमासां चक्रिरे। ते पुनः पुनर्बह्वीभिः बह्वीभिः प्रतिपद्भिः स्वर्गस्य लोकस्य द्वारं नानु चन बुबुधिरे॥ (जै. उ. ब्रा. ४.८.४.५)

[१५] त उ श्रमेण तपसा व्रतचर्येण इन्द्रमवरुरुधिरे। (जै. उ. ब्रा. ४. ८. ४. ६)

१०. कंसः वारक्यः
११. सुयज्ञः शाण्डिल्यः
१२. अग्निदत्तः शाण्डिल्यः
१३. सुयज्ञः शाण्डिल्यः
१४. जयन्तः वारक्यः
१५. जनश्रुतः वारक्यः
१६. सुदत्तः पाराशर्यः

अगस्त्यसहितमाद्यऋषिनामचतुष्टयं व्यतिरिच्य द्वितीयसूच्याः अपराणि द्वादशनामानि प्रथमसूच्याः विंशतिनामतः प्रारभ्य एकत्रिंशत्तमनामपर्य्यन्तं नामसूच्या सह प्रायेण समतां नयति। तदनन्तरमुद्गीथगानपरम्परा प्रथमसूचीनिर्द्दिष्टैः ऋषिभिः अग्रे सारिता स्यात्। अत्र कारणद्वयं भवितुमर्हति -

द्वितीयसूच्याः षष्ठनामतः (शाट्यायनी) षोडशनामपर्यन्तं (सुदात्तः) एकादशाचार्याणां नामानि प्रथमसूच्याः विंशतिनामतः (शाट्यायनी) एकत्रिंशत्तमनामपर्यन्तं (सुदात्तः) द्वादशाचार्यनामानि (केवलं नामैकस्याधिक्यं व्यतिरिच्य) समतां नयन्ति। अतः आचार्यसुदात्तात् परं गायत्रसाम्नस्तथोद्गीथगानस्य परम्परा एका जाता।

वंशब्राह्मणेऽपि जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मणवत् आचार्यपरम्परायाः सूचीद्वयं वर्त्तते। तत्र प्रथमसूच्यां एकोनषष्ठिनामानि पठितानि सन्ति (वं. ब्रा. ३.१) तथा द्वितीयसूच्यां केवलं त्रयोदश नामानि पठितानि सन्ति। परन्तु तत्र सुस्पष्टं लिखितमस्ति यत् - समानं परम्। (वं. ब्रा. ३.१५)

अतः जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मणेऽपि एतदेव तथ्यं प्रयुज्यते। ब्राह्मणेनैतेन उद्गीथगानरहस्यमाचार्यशाट्यायनेः नाम्ना उद्घोषितमस्ति[१६]

[१६] सैषा शाट्यायनी गायत्रस्योपनिषद् एवमुपासितव्या। (जै. उ. ब्रा. ४.९.२.९)

यद्यपीन्द्रप्रसादेन अगस्त्यः परम्पराया अस्याः प्रथम ऋषिरासीत्। अस्यां परम्परायां कश्यप - प्राचीनयोग्य - काण्ड्विय - वारक्य - पाराशर्य - लौहित्य - वंशजानां प्राधान्यं दरीदृश्यते। एतेषु पुनर्वारक्यलौहितयोः प्राधान्यं सर्वाधिकमिति सुस्पष्टम्।

सम्प्राप्तिबिन्दवः

शतपथब्राह्मणे नामकतिपयानि व्यतिरिच्य आचार्यपरम्परायाः परिचितौ आचार्याणां नामानि तेषां तेषां मातृवंशनामभिः सह पुत्रशब्दयोगेन उल्लिखितानि सन्ति। यथा -

पौतिमाषीपुत्रः कात्यायनीपुत्रात् कात्यायनीपुत्रो गौतमीपुत्रात् गौतमीपुत्रो भारद्वाजीपुत्राद् भारद्वाजीपुत्रः वात्सीमाण्डवीपुत्रात् वात्सीमाण्डवीपुत्रः पाराशरीपुत्रात् पाराशरीपुत्रः ... ॥

(श. ब्रा. १४.९.४.३० = बृ. उ.६.५.१)

अत्र कारणं त्विदं निगदितमस्ति यत् स्त्रीप्राधान्यात् गुणवान् पुत्रो जायते। अतः स्त्रीविशेषणैः पुत्रविशेषणानि प्रदाय आचार्यपरम्पराया उल्लेखः क्रियते।[१७]

परन्तु जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मणे तथा वंशब्राह्मणे वर्णितासु आचार्यपरम्परासु आदौ ऋषिनामानि ततस्तेषां पितृपरिचयः तद्धितप्रत्यययोगेन प्रदर्शितोऽस्ति। अतः वैदिककाले मातृप्राधाना तथा पितृप्राधानेत्युभयविधा समाजव्यवस्था प्रचलितासीत्।

एतत् समाश्चर्यकरं तथोत्साहप्रदं तथ्यं यज्जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मणस्य आचार्यपरम्परायाः सूचीद्वये कुत्रापि महर्षिजैमिनेस्तथा तवलकारस्य नाम

[१७] ...स्त्रीप्राधान्याद् गुणवान् पुत्रो भवतीति प्रस्तुतम्। अतः स्त्रीविशेशणेनैव पुत्रविशेषणादाचार्यपरम्परा कीर्त्यते। (शा.भा., बृ.उ.६.५.१-४)

न गृहीतमस्ति। पुनरपि श्रीमद्भागवते प्रदत्तेषु जैमिनिशिष्यप्रशिष्यनामसु जैमिनीयोपनिषद्पठितनामानि न प्राप्यन्ते। अत्रानुसन्धानस्यापेक्षास्ति। तथापि जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मणोक्तानि प्रवाचकनामानि वेदव्यासपूर्वकानि तथा श्रीमद्भागवते वर्णितानि जैमिन्यादीनां नामानि वेदव्यासपरकाणि इति कारणमेकं भवितुमर्हति। अपि च विविधशाखासम्बन्धिता संहिताप्रवचनपरम्परा तथा ब्राह्मणप्रवचनपरम्परा पृथक् स्यादिति अपरं कारणमनुमातुं शक्यते।

जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मणस्य प्रवचन- परम्परायास्तथोद्गीथगानपरम्परायाः तुलनया ज्ञायते यदेकस्मिन् बिन्दौ (सुदात्तात् परं) एषा एका एव परम्परा इति। एवं वंशब्राह्मणे प्रदत्ताभ्यां ऋषिवंशपरम्पराभ्यां सह तुलनात्मकाध्ययनात् कियत्परिमाणेन शाखाद्वयस्य ऋषयः सम्बन्धिताः तज्ज्ञातुं शक्यते। सामविधानब्राह्मणमप्यस्मिन् तुलनात्मकाध्ययने नेतुं शक्यते यत्र प्रवचनपरम्पराया एका सूची उपलभ्यते। एवमपरवेदशाखासु पठिताभिः आचार्यपरम्पराभिः सहापि जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मणस्य परम्परासूची तुलनीया।

ताण्ड्यब्राह्मणवत् जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मणस्य तथा वंशब्राह्मणस्य सायणभाष्यादिसहितं साङ्गोपाङ्गप्रकाशनं न प्राप्यते। १८९८ अब्दे जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मणस्य सर्वप्रथमं प्रकाशनं H. Oertel सम्पादनया American Oriental Society द्वारा रोमन्लिप्या आंग्लोभाषानुवादसहितं जातमासीत्। १९२१ अब्दे अस्यैव कार्यस्य देवनागरीलिप्या पुनर्मुद्रणं रामदेवसम्पादनेन D.A.V. College Sanskrit Series, Lahore तः संजातम्। १९६७ अब्दे पाठभेदादिभिः सह देवनागरीलिप्या ब्राह्मणस्यास्य प्रकाशनं बी.आर्. शर्मसम्पादनेन केन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठात् तिरुपतितः मूलमात्रेणाभवत्। प्रकाशनेऽस्मिन्

ब्राह्मणमिदमपूर्णम्। अतः ब्राह्मणस्यास्य भाष्यानुसन्धानं तथा सम्पूर्णजैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मणस्य भाष्यसहितं प्रकाशनं नितरामपेक्षते।

मूलसहायकग्रन्थसूची

१. अष्टाध्यायीसूत्रपाठः, श्रीनारायणमिश्रः (वृत्तिकारः), चौखम्भा पब्लिशर्स, गोकुल भवन, के - ३७/१०९, गोपाल मन्दिर लेन, वाराणसी - २२१००१, द्वितीय संस्करण १९९८

२. कल्याण उपनिषद् - अङ्क, हनुमानप्रसाद पोद्दार (सम्पादक), गोविन्द भवन कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर, छठा संस्करण, सं २०५८

३. कल्याण वेद - कथाङ्क, राधेश्याम खेमका (सम्पादक), गोविन्द भवन कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर, प्रथम संस्करण सं २०६१

४. छान्दोग्योपनिषद् (सानुवादशाङ्करभाष्यसहित), गीताप्रेस, गोरखपुर, नवाँ संस्करण, सं २०५५

५. जैमिनीयार्षेय - जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मणे, डा. बि. रामचन्द्रशर्मणा पाठभेदादिभिः संशोध्य संपादिते, केन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठम्, तिरुपतिः, १९८४

६. निरुक्तम्, दुर्गाचार्यकृत ऋज्वर्थाख्यव्याख्यानुसारिण्या पं. श्रीमुकुन्दशर्मणा संशोधितम्, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, बंगालरोड, जवाहर नगर, दिल्ली - ११०००७, पुनर्मुद्रित संस्करण २००२

७. बृहदारण्यकोपनिषद् (सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित), गीताप्रेस, गोरखपुर, नवाँ संस्करण सं २०५८

८. वंशब्राह्मणम्, केन्द्रीयसंस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति, १९६५

९. शतपथब्राह्मणम्, चिन्नास्वामिशास्त्रिणा पट्टाभिरामशर्मणा च टिप्पण्यादिभिस्संशोधितम्, रामनाथदीक्षितेन सम्पादितम्, चौखम्भा

संस्कृत संस्थान, पो. वा. नं. ११३९, गोपाल मन्दिर लेन, वाराणसी - २२१००१, तृतीय संस्करण वि. सं. २०५४

१०. शाङ्खायनारण्यकम्, श्रीधरशास्त्रिभिः संस्कृतं संशोधितं च, आनन्दाश्रमसंस्था, पुण्याख्यपत्तनम्, १९८७

११. श्रीमद्भागवतमहापुराण (द्वितीयखण्ड), गीताप्रेस, गोरखपुर - २७३००५. तिरसठवाँ पुनर्मुद्रण सं २०६५

१२. सामविधानब्राह्मणम् (भरतस्वामी सायणभाष्यसमेतम्), केन्द्रीयसंस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति, १९६५

१३. The Ādiparvan, Part I, critically ed. by V.S. Sukthankar, BORI, Poona, १९३३

आनुषङ्गिकसहायकग्रन्थाः

१. उपाध्याय, आचार्यबलदेव. वैदिक साहित्य और संस्कृति, शारदा संस्थान, ३७ बी. रवीन्द्रपुरी, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी - ५, पञ्चम संस्करण १९९८

२. शास्त्री, रूपकिशोर. जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण में निहित दार्शनिक सिद्धान्त, ज्ञानभारती पब्लिकेशन्स, २९/५, शक्तिनगर, दिल्ली ११०००७, २००२

३. सिंह, हीरा. जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण एक समीक्षा, प्रतिभा प्रकाशन, २९/५, शक्तिनगर, दिल्ली - ११०००७, २००१

सामविधानब्राह्मण में वर्णित सामगान विद्या की मानवीय जीवन में उपयोगिता

डा. जगमोहन[१]

मानव जीवन में सुख का बड़ा महत्त्व है । अतः मानव सुख प्राप्ति के लिए नित प्रतिदिन अनेक प्रकार की कामनाएं करता रहता है। यदि यह कहा जाए कि **कामनामयोऽयं पुरुषः** तो यह अतिशयोक्ति नहीं होगी। अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए मानव कर्म एवं पुरुषार्थ करता है। परन्तु ईश्वर में आस्था रखने वाला मनुष्य अपने परिश्रम एवं पुरुषार्थ के साथ-साथ ईश्वर की कृपा एवं आशीर्वाद को किसी भी कामना की पूर्ति के लिए आवश्यक समझता है।

वह ईश्वर की कृपा प्राप्त करने के लिए विभिन्न प्रकार के यज्ञ, दान एवं तप आदि साधनों का अनुष्ठान करता है। इन्हीं साधनों में प्रार्थना का भी बड़ा महत्त्व है। इस विषय का दिग्दर्शन २१ जून २०२० को योग दिवस पर पूज्य गुरुदेव स्वामी विवेकानंद सरस्वती जी महाराज ने "कोरोना संकट में जीवन संरक्षण के उपाय" इस विषय पर बोलते हुए कहा था कि प्रार्थना में अद्भुत शक्ति है। वेद जब प्रार्थना करने के लिए

[१] **हिन्दू महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली**

निर्देश करता है तो इसका मतलब यह है कि निश्चित रूप से प्रार्थना में कोई दैवीय शक्ति है। जो हमारी सहायता करती है। वेद असत्य नहीं हो सकता है।

जब हम प्रार्थना करते हैं तो निश्चित रूप से कोई दैवीय शक्ति हमारी सहायता करती है। प्रार्थना केवल भौतिक जीवन में ही सहायता नहीं करती है, अपितु हमारी मानसिक ओजस्विता, बौद्धिक प्रखरता एवं आत्मिक प्रसन्नता में भी सहायता करती है।

यह तो ठीक है कि प्रार्थना जीवन के धर्मक्षेत्र और कुरुक्षेत्र में हमारी सहायता करती है। परन्तु प्रार्थना हमारे हृदय की अधिक से अधिक गहराई से हो सके, इसका क्या उपाय है? इसका उपाय संगीत है, संगीत ही वह उपाय है, जिसके माध्यम से हम प्रार्थना को हृदय के अधिक से अधिक गम्भीर स्तर तक ले जा सकते हैं। प्रार्थना के भाव जितने गंभीर होंगे प्रार्थना भी उतनी ही अधिक प्रभावी होगी। न केवल प्रार्थना अपितु किसी भी कार्य को जब विधिपूर्वक किया जाता है तो वह अपने फल का उत्तम रीति से वहन करता है।

हमारे ऋषि-मुनियों ने इन प्रार्थनाओं को गहराई प्रदान करने के लिए जिस विधि का साक्षात्कार किया, उसे ही साम-गान कहा गया है। किस कामना की सिद्धि के लिए किस गान पद्धति के द्वारा ईश्वर से प्रार्थना की जाए, इसका दिग्दर्शन हमें सामविधान ब्राह्मण में प्राप्त होता है।

सम्भवतः इसी विशेषता के कारण सामवेद का लोक में इतना अधिक प्रचार-प्रसार था कि आचार्य पतञ्जलि महाभाष्य में सामवेद की सहस्र शाखाओं का वर्णन करते हैं।[२] इतना ही नहीं गीता में भगवान्

[२] महाभाष्य पस्पशाह्निक

श्रीकृष्ण ने **वेदानां सामवेदोऽस्मि**[३] कहकर चारों वेदों में सामवेद को विशेष महत्त्व प्रदान किया है । बृहत् देवता में तो यहां तक कहा गया है कि जो सामगान की विद्या को जानता है, वहीं वेदों के रहस्य को जान सकता है।[४]

सामवेद में मन्त्र या प्रार्थनाएँ तो ऋग्वेद की ही हैं किन्तु उनके गायन पद्धति से उन प्रार्थनाओं की प्रबलता एवं भावों की गहराई अधिक बढ़ गई है। सामवेद वास्तव में ज्ञान और भावना का सामञ्जस्य स्थापित करने की प्रक्रिया है। साम-गान के द्वारा भाव तरङ्गों का एक ऐसा चक्र निर्माण किया जाता है, जो विश्व चेतना को उसी रूप में प्रभावित करने लगता है कि जिन कामनाओं को लेकर साम-गान किया जाता है। सामविधान ब्राह्मण में हमें अनेक प्रकार के सामगानों का विधान प्राप्त होता है। यद्यपि इस विषय को कुछ लोगों ने जादू टोना एवं अभिचार कर्म की श्रेणी में गिना है। परन्तु बिना शोध कार्य के द्वारा इसे प्रथम दृष्ट्या अनदेखा नहीं किया जा सकता है। यह किसी भी सत्यानुसन्धाता के लिए उचित नहीं है।

प्रार्थना के विषय में विदेशी विद्वान् सरवुड एडडी अपनी पुस्तक **यू विल सरवाइव आफ्टर डेथ** में अनेक वर्षों के परीक्षण के पश्चात् प्रार्थना की शक्ति के प्रभाव को सिद्ध करते हैं। अतः जब तक एक एक साम गान के प्रभाव पर शोध कार्य नहीं किया जाता, तब तक मुखमस्तीति वक्तव्यम् के आधार पर उसके प्रभाव को असिद्ध नहीं किया जा सकता है।

---

[३] गीता १०.२२

[४] बृहत् देवता

सामविधान ब्राह्मण में अनेक साम गानों का वर्णन प्राप्त होता है जिनके द्वारा विविध कामनाओं की पूर्ति हेतु सहायता प्राप्त कर सकते है।

ब्रह्मवर्चस् की प्राप्ति के लिए रथन्तर और वामदेव सामगान का विधान प्राप्त होता है । जिसके माध्यम से ईश्वर से प्रार्थना कर व्यक्ति ब्रह्मवर्चस् की प्राप्ति कर सकता है- **अथातो ब्रह्मवर्चस्यानां रथन्तरं वामदेव्यं -----वा प्रयुञ्जानो ब्रह्मवर्चसी भवति।**[५]

जो व्यक्ति वेदादि शास्त्रों की विद्वत्ता को प्राप्त करना चाहता है। उसके लिएसाम-गान का विधान किया गया है- **अष्टरात्रोपोषितो ब्राह्मीमुत्थाप्य प्रजापतेर्हृदयेनाभिगीय सहस्रकृत्वः प्राश्नीयाच्श्रुतनिगादी भवति।**[६]

जो व्यक्ति एक अच्छा वक्ता बनना चाहता है, वाक् प्रगल्भता को प्राप्त करना चाहता है, जो बड़ी-बड़ी सभाओं एवं राजाओं के समक्ष अपनी वाकपटुता का चातुर्य चाहता है, उसके लिए भी यह ब्राह्मण साम-गान का विधान करता है- **वचां मधुकमित्येते आस्येऽवधाय अपां फेनेन इत्येतन्मनसानुद्रुत्यान्ते स्वाहाकारेण निगीर्य राजन्वानहमराजकस्त्वमसीत्युक्त्वा विवदेत् पर्षदि राजनि च उत्तरवादी भवति।**[७]

यह ब्राह्मण श्रीमान् यशस्वी एवं बलवान बनने के लिए भी साम-गान का विधान करता है-

सर्वाणि वा प्रयुञ्जानः श्रीमान् यशस्वी पुष्टिमान् धन्यो भवति।[८]

---

[५] सामविधान ब्राह्मण २.७

[६] सामविधान ब्राह्मण २.७

[७] सामविधान ब्राह्मण २.७

[८] सामविधान ब्राह्मण ३.१

यह ब्राह्मण सुन्दर एवं दीर्घायु सन्तानों की प्राप्ति के लिए साम-गान का विधान करता है-

नित्वा नक्ष्य नित्वामग्ने ---प्रयुञ्जानः सुरूपान् दीर्घायुषः पुत्राल्लभते।[९]

अनादि धान्य की प्राप्ति के लिए यह ब्राह्मण साम-गान का विधान करता है- **व्रीहियवानग्नौ जुहुयात् सुनीथोघा स मर्त्य इत्येतेन धान्यं लभते।**[१०]

स्वर्णादि रत्नों की प्राप्ति के लिए भी सामविधान के रूप में यह प्रार्थना का विधान करता है- **गौरान्त्सर्षपानग्नौ जुहुयात् यद् वीडाविन्द्र यत् स्थिर इत्यनेन हिरण्यं लभते।**[११]

पशु-धन की प्राप्ति के लिए भी यह ब्राह्मण साम-गान के रूप में प्रार्थना का विधान करता है- **सदाभोजनस्योपनीतस्याग्रमग्नौ जुहुयादग्ने विवस्वदुषस इति पूर्वे बलिं चोत्तरेण कुर्याद् पशुधन धान्यो भवति।**[१२]

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि इस ब्राह्मण में वर्णित साम-गान विद्या को जानकर हम अपनी अनेक कामनाओं को पूर्ण कर सकते है।

---

[९] सामविधान ब्राह्मण २.८

[१०] सामविधान ब्राह्मण ३.१

[११] सामविधान ब्राह्मण ३.१

[१२] सामविधान ब्राह्मण ३.३

सामवेदीय ताण्ड्य ब्राह्मण में प्रयुक्त निर्वचन

डा० करुणा आर्या[१]

ताण्ड्य ब्राह्मण सामवेद का ब्राह्मण है। इस ब्राह्मण में २५ प्रपाठक हैं। इन प्रपाठकों में ३४७ खण्ड हैं। इसे पंचविंश ब्राह्मण और प्रौढ ब्राह्मण कहते हैं। यह विशालकाय ग्रन्थ है अतः इसे ब्राह्मण के स्थान पर महाब्राह्मण भी कहते हैं। इसके रचयिता ताण्डि ऋषि माने जाते हैं उनके द्वारा विरचित होने से इसे तांड्य कहते हैं। जैमिनीय ब्राह्मण में इसे तांड्य कहा गया है- **तदु होवाच ताण्ड्यः**। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र में इसे ताणड्य कहा गया है। शंकराचार्य ने भी ब्रह्मसूत्र[२] के भाष्य में ताण्डिन् और शाट्यायिन् शाखाओं का उल्लेख किया है।

इसका संबन्ध कौथुम शाखा से है। यह ब्राह्मण अत्यन्त सुव्यवस्थित और सुसंपादित है। इसकी भाषा शैली, रचनासौष्ठव और वाक्य विन्यास सुनियोजित हैं। इसकी प्रत्येक पंक्ति ही नहीं, अपितु प्रत्येक शब्द नपा-तुला है इसमें न अनावश्यक विस्तार है और न अत्यन्त संक्षेप है। अतएव धर्म और आचार - संहिता के लिए यह सुविख्यात है। इसमें सोम यागों का सांगोपाङ्ग वर्णन है। ऊह और ऊहगानों के विशद

---

[१] **सहायकाचार्या, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली**

[२] ब्रह्मसूत्र शांकर भा०३/३/२७

विवेचन के लिए तांड्य ब्राह्मण अत्यन्त प्रामाणिक है। इसमें व्रात्य यज्ञ विशेष महत्त्वपूर्ण है। यह व्रात्य व्रत संस्कारहीन[३] व्यक्तियों के लिए होता है। इसमें सांस्कृतिक दृष्टि से बहुमूल्य सामग्री मिलती है। इस ब्राह्मण में यज्ञ का विशेष महत्त्व है, यज्ञ न करने वालों को निकृष्ट[४] और वध्य बताया गया है। इस ब्राह्मण में सांस्कृतिक और भौगोलिक अध्ययन की विपुल सामग्री प्राप्त होती है।

ब्राह्मणों में निर्वचन-परम्परा का विकास -

शाबरभाष्य के अनुसार ब्राह्मण ग्रन्थों के १० प्रतिपाद्य विषयों में से द्वितीय स्थान निर्वचन[५] का है। वेद (मन्त्र संहिताओं) में भी अनेक निर्वचन प्राप्त होते हैं किन्तु इस प्रक्रिया का विधिवत् प्रारम्भ ब्राह्मणों[६] में ही हुआ। यास्क ने भी अपनी निरुक्तियों की प्रामाणिकता को प्रदर्शित करने के लिए स्थान-स्थान पर "**इति ब्राह्मणम्**, तथा **इति ह विज्ञायते**" सदृश कथनों का आश्रय[७] लिया है। ब्राह्मणों में निर्वचन परम्परा का विकास अभिव्यक्ति- सौष्ठव और सौकर्य के साथ ही पारिभाषिक शब्दावली की व्याख्या करने वाले एक समर्थ साधन के सन्दर्भ में भी दिखलाई देता है।

सामवेदीय कौथुमशाखीय ताण्ड्यादि ब्राह्मणों में कुल ७६ निर्वचन हैं। षड्विंश में गान सम्बन्धी निरुक्ति केवल एक है - धूर्गान्विषयक।

---

[३] तां० ब्रा० १७/१/१४/१५

[४] तां० ब्रा०१८/१/ ९

[५] मीमांसा सूत्र शाबर भाष्य (२/१/८)

[६] निर्वचन तथा निरुक्ति शब्द सर्वप्रथम सामवेदीय ब्राह्मणों में ही आये हैं -देवताध्याय ब्राह्मण ३/१तथा छा० उप०-८/१/३

[७] निरुक्त १,३,८,-२,५,१७इत्यादि।

सामविधान ब्राह्मण में केवल साम शब्द का तथा देवताध्याय ब्राह्मण में छन्द- नामों का निर्वचन किया है। जिसका निरुक्त से बहुत साम्य है। जैमिनीय ब्राह्मण तथा उपनिषद् ब्राह्मणों में भी बहु संख्यक[८] निरुक्तियां हैं। अकेले जैमिनीय ब्रा० में लगभग ३० निरुक्तियां प्राप्त होती हैं।

ब्राह्मणों की निर्वचन शैली -

१- आचार्य यास्क के द्वारा तीन प्रकार की वृत्तियां बतायी गयी हैं - प्रत्यक्ष, परोक्ष तथा अतिपरोक्षवृत्ति; ब्राह्मणों में ये तीनों ही प्रकार की वृत्तियाँ प्राप्त होती हैं। बहुशः निर्वचन इसके त्रिविध[९] परम्परा के ज्ञापक हैं। इस परम्परा का विकास ब्राह्मण काल में ही हो गया था। अधिकांश स्पष्ट क्रिया वाले निर्वचनशब्द व्युत्पत्ति को तत्काल स्पष्ट कर देते हैं। कुछ निर्वचन विशेष व्याख्या की अपेक्षा करते हैं। अतिपरोक्ष[१०] वृत्ति वाले प्रयोगों में शब्द अपनी प्रकृति से संस्कारादि (विकारादि) के कारण बहुत दूर हटे प्रतीत होते हैं। इन्हें देखने से सामान्य व्यक्ति इनकी व्युत्पत्ति का अनुमान नहीं कर सकता।

२- ब्राह्मणकार नामकरण का आधार पदार्थ की किसी क्रिया को मानते हैं क्यों कि व्युत्पत्ति क्रिया के माध्यम से की गई है॥

३- शब्दार्थ की व्याख्या करते समय यथाशक्य ध्वनि और रूपरचना को भी स्पष्ट कर देते हैं।

---

[८] सामवेदीय ब्रा०- पृ०-३२०

[९] निरुक्त १/१ की टीका में दुर्गाचार्य का कथन है- त्रिविधा हि पशब्दव्यवस्था-प्रत्क्षवृत्तयः परोक्षवृत्तयः अतिपरोक्षवृत्तयश्च। तत्नोत्कटक्रियाः प्रत्यक्षवृत्तयः अन्तर्लीनक्रियाः परोक्षवृत्तयः ।

[१०] निरुक्त २/१

४- रूपरचना में केवल प्रकृति ही नहीं, प्रत्यय, समास और लोकप्रत्ययवत्ता की ओर संकेत कर देना।

५- कहीं-कहीं केवल अर्थमात्र को ही स्पष्ट किया गया है।

६- निर्वचनों को लोकप्रचलन का विशेष आग्रह है - इस दृष्टि से आख्यायिका और निर्वचनों का पूरा-पूरा सन्दर्भ दिया गया है।

ताण्ड्य ब्राह्मण में प्रयुक्त निर्वचन-

अर्थ की दृष्टि से-

आज्य- आजि शब्द से, जिसका अर्थ है मर्यादा- **अजि+इण्गतौ** से प्रतियोगिता के लिए निश्चित सीमा को (दौडकर) प्राप्त किया[११] जिसने - **आजिमस्मिन्मिनोति - आजिमायन्यदाजिमांयस्तदाज्यानामाज्यत्वम्।** और घी अर्थ के वाचक आज्य शब्द की निरुक्ति (आ+अञ्ज्+क्यप्) से यह भिन्न है। आचार्य यास्क भी अज्मम्-अजनिम्-आजिम्[१२] इन तीनों को समानार्थक मानते हैं। **आजेः आजयनस्य आजवनस्य**[१३] **इति वा**। आजयन विजय दिलाने वाला या आजवन- तेज गति वाला। यहां जि (जये) धातु से आङ् पूर्वक तथा जु (गतौ) से।

अर्कपुष्प- देव गण के द्वारा अन्न को अर्क और पुष्प को रस कहने के कारण नामकरण[१४] सम्पन्न हुआ। यास्क ने अर्च से इसकी व्युत्पत्ति की है। **अर्कमन्नं भवति, अर्चति भूतानि**, यह अन्न सब प्राणियों को जिलाता है। अर्च धातु जीवनार्थक भी है। **अर्कः मन्त्रो भवति**[१५] अर्क मन्त्र का भी

---

[११] ताण्ड्य बाह्मण ७/२/१

[१२] निरुक्त -४/४/१४

[१३] निरुक्त ९/३/१७

[१४] ताण्ड्य बाह्मण१५/३/२३

[१५] निरुक्त-५/१/२४

वाचक है- **जनाः अर्चन्ति**= लोग अपने इष्ट देव की प्रार्थना करते हैं।

अरिष्ट- रिष (हिं धातु से नञ् समास पूर्वक)। इस साम प्रयोग से शत्रु हिंसित[१६] नहीं कर सकते। इस प्रकार अ+रिष्+क्त से यह निष्पन्न है। **अरिष्टः अहिंसितः यः** अप्रतिहत व्यक्ति।

आज्यदोह- ये तीन साम आचिदोह या "आच्यादोह " भी कहलाते हैं। कालन्द ने आच्या को विकृत माना है, किन्तु ब्राह्मणकार ने निर्वचन आच्य को आधार मानकर ही किया है। **यदाच्या दुग्धे तदाच्यादोहानामाच्यादोहत्वम्**[१७]। इसका अभिप्राय है कि घुटने मोड़कर दूध दुहने की क्रिया से यह नामकरण सम्पन्न हुआ है। जैमिनीय ब्राह्मण में आज्य नाम से एक व्युत्पत्ति दी गई है- वहाँ आजि का अभिप्राय है लोक, उन्हीं के दोहन से ये साम सम्बद्ध है- **इमे वै लोका आजयो ना वम, तेषामेते दोहा, दुह**[१८] **इमान् लोकान् य एवं वेद।**

आमहीयव- आङ्+मह् (पूजायाम्) से सृष्ट प्रजा ने इससे महत्त्व प्राप्त किया- **यदमहीयन्त तस्मादामहीयवम्**[१९]**।**

च्यावन- णिजन्त च्यु गतौ से ल्युट् और उसके स्थान पर अन होकर निष्पन्न हुआ है। प्रजापति ने इसके द्वारा दृष्टि कराई- **यदाच्यावयत् तत् च्यावनस्य च्यावनत्वम्**[२०]। **च्यवनं युवम्। स्तोमानां च्यावयिता वा**[२१] मन्त्र समूहों को बतलाने वाला, प्राप्त कराने वाला उपदेष्टा।

---

[१६] ताण्ड्य बाह्मण १२/५/२३

[१७] वही- २१/२/६

[१८] जैमि० ब्रा० २/२५५

[१९] ताण्ड्य बाह्मण-७/५/१

[२०] वही-१३/५/१३

[२१] निरुक्त-४/ ३/३८

कालेय- कलेर्ढक् से ढक् प्रत्यय के योग से असुरों को इस साम से निकाल फेंका गया -**तेन एतान् एभ्यो लोकेभ्योऽकालयन्त यदाकालयन्त तस्मात्कालेयम्**[२२] **।**

गौङ्गव- गुङ् (अव्यक्ते शब्दे) से जैमिनि[२३] ब्राह्मण में गंगणि से निष्पन्न माना गया है। ताण्ड्य ब्राह्मण में इसका वैकल्पिक निर्वचन - गर्द से भी माना गया है। **यदगङ्गूयत् तत् गवस्य गौङ्गवत्वम्**[२४] **।** जो स्वरूपतः परोक्ष ही नहीं, अतिपरोक्षवृत्ति हो गया है।

तैरश्च्य - तिरश्च्य से तिर्यक् रूप से वर्तमान साम के द्वारा सर्वत्र गमन के कारण यह नाम पड़ा। यह भी अतिपरोक्षवृत्ति न सही, परोक्षवृत्ति तो है ही- **तिङ्पर्यवत् तस्मात् तैरश्चनत्वम्** [२५]।

धूर्गान् - धूर् (हिंसागत्योः से धूः+क्विप्) **यदधूर्वन्, तत् धुरां धूस्त्वम्**[२६]।

नानद- नद् (अव्यक्ते शब्दे) से इन्द्र जब किसी अन्य उपाय से वृत्र को न मार सके, तब उनके द्वारा किया गया शब्द ही नानद हो गया। **यदस्तृता व्यनदत् तत् नानदस्य नादत्वम्**[२७]।

पराक्- पृ पराक् से जिसका अर्थ है न्यग्भूत। इससे पुरुष का दुख कम हो जाता है- **पराङ् एव एतेन स्वर्गं लोकमाक्रमते, यद्वा एतस्मास्य भासत्वम्**[२८] **।**

---

[२२] वही- ८/३/१

[२३] वही- ३/१८५

[२४] वही-१४/३/१९

[२५] वही- १२/६/१२

[२६] वही-२/३/४

[२७] वही-१२/१३/४

[२८] वही -२१/८/२/३

जैमिनीय ब्राह्मण में इसका निर्वचन अधिक स्पष्ट रूप से किया गया है- **पराञ्चेव स्तोत्राणि भवन्ति, पराञ्चि शस्त्राणि पराञ्चि पृष्ठानि, पराचीर्विष्टुतयः, परानेव सर्वो भवति**। इस प्रकार पराक् में विपरीत क्रम का अभिप्राय है। पराञ्च् अव्यय का अर्थ ही मुड़ना है।

अदारसृत - यहां नञ् का उदाहरण देखने को मिलता है- दार= कोप दर (दृ) धातु से और सृत को सृ धातु से नञ्क्रिया से व्युत्पन्न माना गया है। **नासृन्मेति तददारसृतोऽदारसृत्वम्**[२९]**। कालन्द** ने **सृ** से निष्पन्न "**असारिष्म**" मानने का सुझाव दिया है- "**असृन्म**" को वे अशुद्ध रूप मानते हैं।

भास- भा (दीप्तौ) से- **स व्यरोचयत यद्वै तद्भा अभवत् तद्भासस्य भासत्वम्**[३०]।

रथन्तर- रथम्तरति इति (रथ+तृ से) देवों की (रथ) वाहनभूत वाणी के समीप यह साम शीघ्रता से गया। **रथम्मर्याः क्षेप्लातारीदिति तद् रथनतरस्य रथन्तरत्वम्**[३१]**।** इसी ब्राह्मण में ही आगे रथन्तर को देवरथ कहा गया है- **देवरथो वै रथन्तरम्**[३२]। सायण के अनुसार वाणी अक्षितभाव से कही गई। कालन्द का क्षेप्ला के स्थान पर क्षेप्णा पाठ मानने का आग्रह है।

महानाम्नी- महन्या शब्द से ही महाम्नी शब्द की व्युत्पत्ति की है। ताण्ड्कार ने- **महन्यमकरोत् तन्महन्या महान् घोष आसीत् तन्**

---

[२९] ताण्ड्य बाह्मण-१५/३/७

[३०] वही-१४/११/१४

[३१] वही-७/६/४

[३२] वही-७/७/१३

महानाम्न्यः[३३] **।** कालन्द ने मह्न्या-को विस्मयसूचक अव्यय माना है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार इन्द्र ने महानाम्नी संज्ञक मन्त्रों से महान् आत्मा की सृष्टि की अभिप्राय यह है कि आम्नी पद आत्मा का उपलक्ष्यक है- **इन्द्रो वा एताभिर्महानात्मानं निरमीत। तस्मान्महानाम्न्यः। सिमा तत् ऊर्ध्वाः सीम्नोऽभ्यसृजन। यदूर्ध्वाः सीम्नोऽभ्यसृज्यत तत्सिमा नां सिमात्वम्**[३४] ।

सत्रासाहीय - इसका निर्वचन सत्रा+असाहीय रूप में किया गया है। सत्रा का अर्थ है अन्तिम रूप से। दूसरा पद **षह (अभिभवे)** से निष्पन्न है सम्पूर्ण अर्थ है - इस सा की सहायता से असुरों को अन्तिम रूप से जीत लिया- **यद्वा असुरामसोढमासीत् तद्देवाः सत्रासाहीयेनाऽसहन्त सर्वनासक्ष्महीति तत्सत्रासाहीयस्य सत्रासाहीयत्वम्**[३५] **।**

साम - सामवेदीय ब्राह्मणों में इसकी तीन व्युत्पत्तियाँ प्राप्त होती हैं। सा (ऋचा) और अम (गान) वाली निरुक्ति बहुत प्राचीन और प्रसिद्ध हैं क्योंकि यह जैमिनीय ब्राह्मणों में भी है। इसके अतिरिक्त छान्दोग्य ब्राह्मण में तथा सामविधान ब्राह्मण में समता पर बल दिया गया है। अतः ब्राह्मण ग्रन्थों में सम् (परिणाम) से निष्पन्न मानने का प्रतीत होता है। लौकिक संस्कृत में प्रसन्न करने के अर्थ में साम शब्द साम् (सान्त्वप्रयोगे) से निष्पन्न माना जाता है, किन्तु ब्राह्मणों का उस पर बल नहीं है।

वामदेव्य- इसकी व्युत्पत्ति और दैव्य को पृथक्-पृथक् मान करके की गई है। वाम का अर्थ है वननीय सुन्दर धन, **वामं वननीयं भवति**।

---

[३३] वही-१३/४/१

[३४] ऐतरेय ब्रा०- २२/२

[३५] ताण्ड्य बाह्मण -१२/९/२१

प्रशस्त देव-सायण के अनुसार देवों के मध्य रमणीय धन उत्पन्न हुआ है साम के रूप में- मित्रावरुण के इस कथन के आधार पर नामकरण सम्पन्न हुआ[३६]। कालन्द के अनुसार देवीषु के स्थान पर देवेषु को केवल व्युत्पत्ति के आग्रह से ही ब्राह्मणकार ने रखा[३७] है। शिरोमध्य में प्रहार करने के कारण।

शाक्कर- साम और तद्गत चार अवान्तर नाम- से सभी निर्वचन अतिपरोक्षवृत्ति से किये गये हैं। शक्करी शक्- **एतेन शक्रुहि इति तच्छक्करीणां शक्रीत्वम्**[३८]। सिमा- सि (+ मनिन्) से। **सीमानमभिनत् तत् सिमा[३९]।**

संकृति- सम् आप् में देवस्थान और संस्कृति संज्ञक सामों का निर्वचन एक साथ किया है। देवस्थान में रहकर देवों ने संस्कृति से संस्कार किया[४०]। इस प्रकार संस्कृति शब्द ब्राह्मणकार के अनुसार सम्+कृ से निष्पन्न हुआ।

प्रतिपाद्य के अनुकूल निर्वचन-

अनेक निर्वचन इस तथ्य को दृढता से रेखाङ्कित करते हैं कि कभी-कभी बाह्मणकार शब्द (पारिभाषिक शब्द के सन्दर्भ में विशेष रूप से) के मूल अर्थ की चिन्ता न करके अपने प्रतिपाद्य के अनुकूल अर्थ में निर्वचन कर लेते हैं। यथा -

---

[३६] ताण्ड्य बाह्मण - ७/८/१

[३७] In the Waters, instead of देवीषु etymologic cause !- Caland, Eng. Trans. Page १५३

[३८] ताण्ड्य बाह्मण -७/८/१

[३९] ताण्ड्य बाह्मण -७/८/१

[४०] वही - १५/३/२९

गो- एकाह याग के वाचक इस शब्द की व्युत्पत्ति गोवय धातु से मानी गयी है। जो केवल यहीं प्राप्त होती है- **गवा वै देवा असुरान् एभ्यो लोकेभ्योऽनुदन्तेभ्यो भ्रातृव्यान्नुदते य एवं वेद। यद्गै तद्देवा असुरानेभ्यो लोकेभ्यो गोवयंस्तद् गोर्गोत्वम्**[४१]। सायण ने वैकल्पिक रूप से गम् से भी व्युत्पन्न करने की चेष्टा की है। गोवय का अर्थ है तिरोहित करना। देवों ने इस याग से असुरों को तिरोहित कर दिया। अर्थात् एकाह= यज्ञ को संज्ञा का अभिधेय स्वीकार करता है। एकाह यज्ञार्थक प्रस्तुत संज्ञा के अपिहितार्थ को कथा के माध्यम से कहा - देवताओं में प्रकृत यज्ञ के माध्यम से पृथिव्यादि लोकों से असुरों को तिरोहित कर लिया जाये। इस प्रकार सायण एकाह यज्ञ के वाचक गो संज्ञा को तिरोधानार्थक **छान्दस् गोवयतिः** धातु से निष्पन्न मानते हैं।

असुर- असुर शब्द की दो व्युत्पत्तियाँ प्रायः प्रचलित हैं- **असून् राति इति** अर्थात् प्राणप्रदः इसमें असु शब्द अस् से निष्पन्न माना जाता है। नञ् समासवाली व्युत्पत्ति- **न सुर इति**। किन्तु ब्राह्मणकार ने इन दोनों से भिन्न व्युत्पत्ति दी है- **यदसूर्यं तदसुराणाम् असुरत्वम्**[४२]। **असूर्यम्** अर्थात् सूर्य जिसमें न हो-रात्रि। सामान्यतः सूर्य शब्द षुञ् (प्रसवे) अथवा सृ (सरणार्थक) से निष्पन्न माना जाता है।

यज्ञ- सामान्यतः यज्ञ शब्द यज् धातु से नङ् प्रत्यय के योग से व्युत्पन्न समझा जाता है, किन्तु छान्दोग्य उपनिषद् में इसे या (गतौ) से निष्पन्न बतलाया गया है - यज्ञ चलते हुए सभी को पवित्र करता है- **यदेष यज्ञ इदम् सर्वम् नाति**[४३]।

---

[४१] ताण्ड्य बाह्मण - १६/ ३/१

[४२] निरुक्त १.३

[४३] छा० उपनिषद्-४/१६/१

वाजपेय- वज् से (घञ्) के योग से निष्पन्न। ब्राह्मणकार को संभवतः वाज शब्द के अनेक अर्थों में से पंख अर्थ ही अभिप्रेत हैं। पेय शब्द यद्यपि (पा+ण्यत्) से भी व्युत्पन्न हो सकता है, किन्तु ब्राह्मणकार ने प्रतीत होता है पंख तथा स्वर्ग से संगति बनाये रखने के लिए आप (**प्रापणे तथा व्याप्तौ**) से व्युत्पत्ति[४४] की है, जो परोक्षवृत्तिगत हो गई।

दिव- दिव(द्युतौ) से निष्पन्न **दिव वा अद इति तद्दिवो दिवत्वम्**[४५]**।**

अन्तरिक्ष- अन्तर्+ईक्ष+घञ् यह व्युत्पत्ति लौकिक दृष्टि से की जाती परन्तु ब्राह्मणकार ने पृथ्वी और द्युलोक मध्य होने के कारण यह नामकरण होना माना है- **दिव वा अद इति तद्दिवो दिवत्वम्**[४६]**।**

लोकविषयक शब्दों का प्राचुर्य- ताण्ड्य ब्राह्मण में साम नामों से भिन्न अन्य निर्वचनों में याग सम्बन्धी और लोकप्रिय शब्दों का प्राचुर्य है। यथा-

अश्व- यह अश्वरात्रिरात्रगत अंश है। इसकी निरुक्ति श्वि (गतिवृद्धयोः) से अभिप्रेत है, क्योंकि प्रजापति की फैली हुई आँख ही अश्व हो गई। **प्रजापतेर्वा अक्षि अश्वयत् परापतत् तत् अश्वोऽभवत्। तत् अश्वस्य अश्वत्वम्**[४७]**।** तैत्तिरीय संहिता में भी अश्वमेध गत अश्व शब्द की प्रायः इसी शब्दावली और मिथक में व्युत्पत्ति[४८] की गई है। प्रतीत होता है कि ताण्ड्य ब्राह्मण में वहीं से लिया गया।

अप्तोर्याम- आप् (व्याप्तौ) धातु से देवों ने जिसकी कामना, उसी

---

[४४] ताण्ड्य बाह्मण-१६/४/५

[४५] वही -२०/१४/२

[४६] वही -२०/१४/२

[४७] वही -२१/ ४/२

[४८] तैत्तिरीय संहिता-५/३/१२/१

को इससे प्राप्त किया- **यं यं काममकामयन्त तम् तमाप्नुवन्, तदप्तोर्यामत्वम्**[४९]। लौकिक संस्कृत में सामान्यतः इसका विग्रह इस प्रकार भी किया जा सकता है। **अप्तोः (शरीररस्य पावकत्वात्)** याम (नियम) इव शरीर को शोधित करने वाले नियम के समान। याम शब्द यम से 'घ' प्रत्यय लगा कर निष्पन्न माना जाता है।

आयु- आ+यु आङ्पूर्वक यु (**मिश्रणामिश्रणयोः**) धातु से। इस याग से देवों ने असुरों को प्राणों से वियुक्त किया- **आयुषा वै असुरान् आ युवत**[५०]।

ऋत्विक्- ऋत्व्य से ताण्ड्यकार ने इसे व्युत्पन्न माना है, जिसका अर्थ है। ऋतुकला गर्भ का कारणभूत (बीज), उसी बीज से ऋत्विजों की सृष्टि सम्पन्न हुई- **स प्रजापतिः आत्मनि ऋत्व्यमश्यत् तत ऋत्विजोऽसृजत् यत् ऋत्व्यात् असृजत तत ऋत्विजाम् ऋत्विक्त्वम्**[५१]।

जैमिनीय ब्राह्मण (तृतीय प्रपाठक) में ऋत्व्य के स्थान पर ऋतविय प्राप्त होता है। जो अधिक नियमानुकूल है, लौकिक संस्कृत में ऋत्विक् शब्द ऋतु+ यज्+ क्विन् से निष्पन्न समझा जाता है।

इस प्रकार ताण्ड्य ब्राह्मण में प्रयुक्त प्रमुख निर्वचनों का विवरण प्रस्तुत किया गया है। इस ब्राह्मण में मुख्यतः सोमयागगत शब्दों की व्याख्या है। कई निर्वचन इस तथ्य का विश्लेषण करते हैं कि कई बार ब्राह्मणकार शब्द के मूल अर्थ की चिन्ता न करके अपने प्रतिपाद्य के अनुकूल अर्थ में निर्वचन करते हैं। वर्ण के आगम, लोप और विकारादि

---

[४९] ताण्ड्य बाह्मण-२०/४/५।

[५०] ताण्ड्य बाह्मण-१६/३/१

[५१] वही -१`०/३/१

का नाम्ना उल्लेख न करते हुए भी ब्राह्मणकार उनसे परिचित हैं। पद को भाषा की आधारभूत इकाई मानकर उसका प्रकृति और प्रत्ययगत वैयुत्पत्तिक विश्लेषण करते हैं साथ ही तद्धित, समास को इङ्गित करने की भी चेष्टा करते हैं।

निर्वचन प्रक्रिया में ब्राह्मणकार ने वैय्याकरणों की दृष्टि से कार्य नहीं किया अपितु नैरुक्तिक दृष्टि से कार्य किया है। ताण्ड्यकार ने किसी प्रक्रिया एवं बन्धन में बँधकर नहीं किन्तु पूर्ण स्वतन्त्र रूप से निर्वचन प्रस्तुत किये हैं। इन निर्वचनों को जानेंगे तो वेद के अर्थ तक पहुंच पायेंगे। सामवेद को समझ पायेंगे। आध्यात्म की ओर बढ़ेंगे जो कि मानव-जीवन का लक्ष्य है।

षड्विंशब्राह्मण में यज्ञीय प्रायश्चित्तविधान

डा. विनोद कुमार[1]

षड्विंशब्राह्मण सामवेद की कौथुम शाखा से सम्बन्ध रखता है। महत्ता की दृष्टि से यह ताण्ड्य या पञ्चविंश महाब्राह्मण के बाद दूसरा महत्वपूर्ण ब्राह्मणग्रन्थ है। ब्राह्मणग्रन्थों की परिभाषा की कसौटी पर परीक्षा करने के उपरान्त सामवेद के कौथुम शाखीय ब्राह्मणों में उक्त दो ही ब्राह्मण ग्रन्थों को ब्राह्मणग्रन्थ की श्रेणी में वर्गीकृत किया जाता है जबकि सामविधान, आर्षेय, देवताध्याय, उपनिषद्, संहितोपनिषद् और वंश ब्राह्मणों को विद्वानों ने अनुब्राह्मण माना है[2] 'ताण्ड्यांशभूतानि ताण्ड्यपरिशिष्टभूतानि वा अनुब्राह्मणानि वा अपराण्यपि सप्ताधीयन्ते'[3]। इनके अतिरिक्त जैमिनीय शाखा के जैमिनीय ब्राह्मण, जैमिनीय आर्षेयब्राह्मण और जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मण उपलब्ध होते हैं जो कि प्रकाशित भी हैं। इनके अतिरिक्त डॉ. वटकृष्ण घोष के अनुसार कुछ ऐसे सामवेदीय ब्राह्मणग्रन्थों के उद्धरण भी विभिन्न ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं जो कि मूलरूप या अपने सम्पूर्ण स्वरूप में प्राप्त नहीं होतें हैं। इनमें से दो

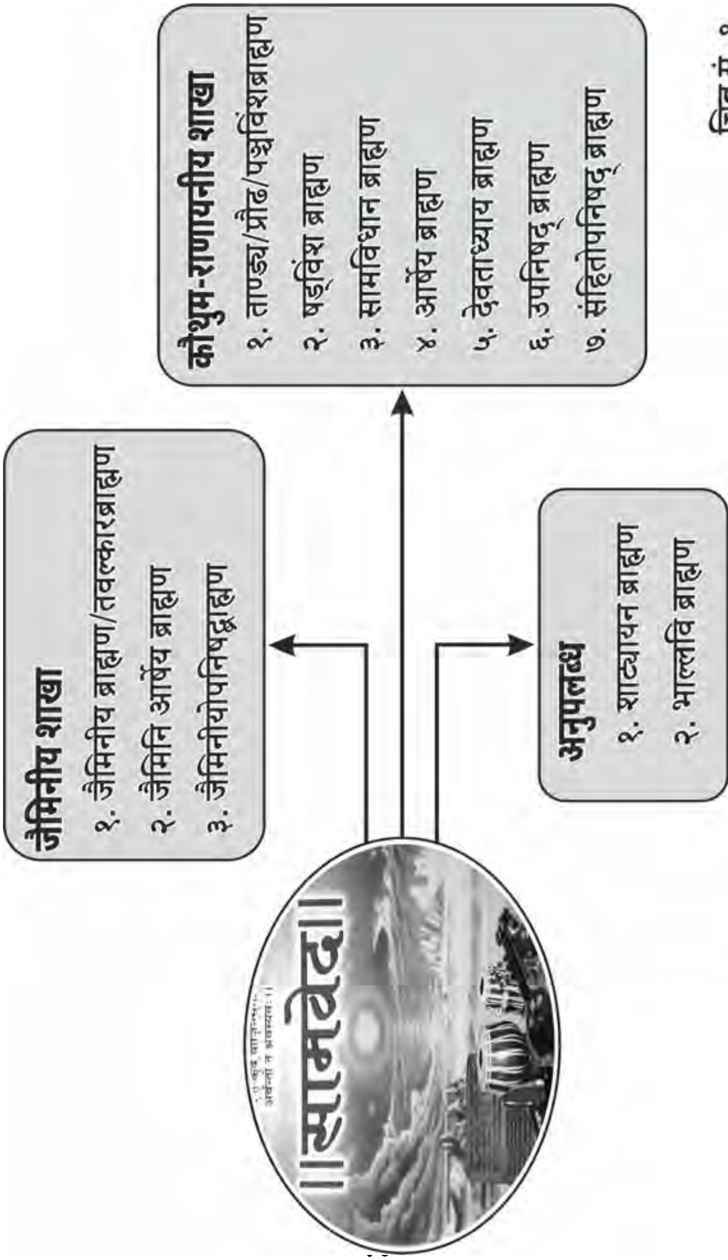
---

[1] **सहायक आचार्य, राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय, काँधला**

[2] आर्षेय ब्राह्मण का मुखपृष्ठ- डॉ. सत्यव्रत सामश्रमी

[3] निरुक्तालोचन, पृष्ठ १९७

ब्राह्मण प्रमुख हैं - शाट्यायनब्राह्मण तथा भाल्लविब्राह्मण। सामवेदीय ब्राह्मणों को **चित्र सं. १** के द्वारा जाना सकता है-



चित्र सं. १

षड्विंशब्राह्मण, जैसा कि इसके नाम से प्रतीत हो रहा है कि पहले कभी इन्हें एक ही अध्याय माना जाता होगा। विद्वानों की यह भी मान्यता है कि षड्विंशब्राह्मण कदाचित् ताण्ड्यब्राह्मण का ही भाग है। पच्चीसवें अध्याय के बाद कालान्तर में लिखित होने के कारण छ्ब्बीसवें अध्याय ने षड्विंशब्राह्मण नाम से स्वतन्त्र ब्राह्मणग्रन्थ का आकार ग्रहण कर लिया हो। अत एव सम्भवतः सायणाचार्य ने भी भाष्योपक्रमणिका में इसे 'ताण्डकशेषब्राह्मण' कहा है। मूलरूप से इसमें सोमयागों के ताण्ड्य ब्राह्मण में अकथित विषयों का ताण्ड्य की शृङ्खला में विवेचन है। इस कारण भी यह ताण्ड्यब्राह्मण का परिशिष्ट प्रतीत होता है[४]। षड्विंश ब्राह्मण छः अध्यायों में विभक्त है तथा प्रत्येक अध्याय छोटे छोटे खण्डों में विभक्त हैं।

वास्तव में देखा जाए तो ब्राह्मणग्रन्थों का मुख्य प्रतिपाद्यविषय याग ही है। पञ्चविंशब्राह्मण में एक ओर जहाँ १७८ सोमयागों का विस्तृत वर्णन है वहीं षड्विंशब्राह्मण में सोमयागों के वर्णन प्रसंग में अवशिष्ट कतिपय विषयों का वर्णन कर दिया गया है। उल्लेख्य है कि प्राचीन परम्परा में इन यागों को इष्टप्राप्ति का साधन माना गया है । किन्तु इनका अनुष्ठान करते समय जाने या अनजाने में किसी अनुष्ठाता (ऋत्विज या यजमान) से कोई त्रुटि हो जाए तो उससे अनिष्ट की भी प्राप्ति सम्भव है। अतः इस प्रकार के अनिष्ट निवारण हेतु षड्विंशब्राह्मण में यथाप्रसंग प्रायश्चित्त कर्मों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। प्रायश्चित्त का अर्थ है स्वतः दण्ड स्वीकार कर लेना जिससे हीन या अशुभ कर्मों का विनाश हो सके 'प्रयतत्वाद्वापचितमशुभं नाशयतीति प्रायश्चित्तम्'। लेकिन ये

[४] संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, खण्ड १, पृ. ४१८

प्रायश्चित्त कर्म, पाप कर्मों के परिणाम के निवारण में समर्थ नहीं माने जाते। अत एव पापकर्म एवं प्रायश्चित्त कर्मों का भेद स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जो जानते हुए कामनापूर्वक पाप (वेदविरुद्ध, अनुचित या आपराधिक कर्म) किए जाते हैं वो पापकर्म हैं जबकि अनिच्छा से या अनजाने में त्रुटिवश जो कार्य हो जाएं वे प्रायश्चित्तकर्म कहलाते हैं 'अकामतः कृते पापे प्रायश्चित्तम्,न कामतः'[५]। अर्थात् प्रायश्चित्त में ज्ञात अज्ञात त्रुटियों को अनुभव कर उनको सुधारने हेतु तप का निश्चय करने की भावना निहित होती है। जैसा कि महर्षि अङ्गिरा ने कहा है -

प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते।
तपो निश्चयसंयोगात् प्रायश्चित्तमिति स्मृतम्॥

ध्यातव्य है कि यज्ञ का अनुष्ठाता तो यजमान होता है किन्तु उसके उस अनुष्ठान को सम्पन्न कराने वाले ऋत्विज- होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा, उद्गाता आदि उसी के प्रतिनिधि के रूप में नियुक्त होते हैं और यज्ञ के तत्तद् अंग भी माने जाते हैं। जो कर्मकाण्ड ऋत्विज करते एवं कराते हैं उसका फल यजमान को प्राप्त होता है। किञ्च, यदि ऋत्विजों से यज्ञीय कर्मकाण्ड कराते समय कोई त्रुटि हो जाती है तो उसका हानिरूप फल भी यजमान एवं ऋत्विज दोनों को प्राप्त होता है। जैसे कि कहा है - 'होता यज्ञ का वाग्रूप होता है। चूँकि वह जो कुछ करता है अपनी वाणी को यजमान में स्थापित करता है। और इस प्रकार वह होता वाणी के द्वारा परलोक में चारों ओर से व्याप्त हो जाता है। अतः यदि होता कोई विधि छोड़ता है या त्रुटि करता है तो यज्ञ के वाग्रूप होने के कारण यज्ञ वाग्विहीन हो जाता है। इसी प्रकार अध्वर्यु चक्षुरूप, ब्रह्मा मनोरूप, उद्गाता श्रोत्ररूप, सदस्य आत्मारूप, होत्राशंसी अङ्गरूप तथा चमसाध्वर्यु

[५] वाचस्पत्यम् (शब्दकोश)

यज्ञ के लोमरूप होते हैं। अतः अध्वर्यु की त्रुटि से यज्ञ चक्षुहीन, ब्रह्मा की त्रुटि से यज्ञ मनहीन, उद्गाता की त्रुटि से यज्ञ श्रोत्रहीन, सदस्य की त्रुटि से यज्ञ आत्माविहीन, होत्राशंसियों की त्रुटि से यज्ञ अङ्गविहीन तथा चमसाध्वर्यु की त्रुटि के कारण यज्ञ लोमहीन हो जाता है[६]। अतः यज्ञ को अङ्गवैकल्य से बचाने हेतु उपर्युक्त रहस्य को जानने वाले ऋत्विज एवं उपऋत्विजों को यज्ञ में हीनता अर्थात् त्रुटि नहीं करनी चाहिए 'तस्मादेवं विद्यज्ञे हीनं न कुर्यात्'[७]। यहाँ वर्णित ऋत्विजों के देवतात्मक स्वरूप को दिशाओं समेत **चित्र सं. २** के द्वारा जाना जा सकता है -

चूँकि यजमान की पशुसम्पत्ति अध्वर्यु पर कीर्ति होता पर, योगक्षेम ब्रह्मा पर और आत्मा अर्थात् प्रजा या सन्तान उद्गाता पर आश्रित होते हैं 'पशवो ह्याध्वर्युमनु कीर्तिर्होतारं योगक्षेमो ब्रह्माणमात्मा च प्रजा चोद्गातारम्'[८]। आगे ऋषि कहते हैं कि यदि यजमान पशुओं से वियुक्त होता है तो यजमान यह जाने कि अध्वर्यु ने मेरे लिए ऐसा (त्रुटिपूर्ण कर्मकाण्ड) कर दिया है। इसी प्रकार यदि पापीयान् कुत्सित अकीर्ति का उदय हो जाए तो होता की त्रुटि, यदि योगक्षेम में बाधा उपस्थित हो तो ब्रह्मा की त्रुटि, और स्वयं से या सन्तान से वियुक्त हो जाए तो उद्गाता की त्रुटि यजमान को जाननी चाहिए[९]। सम्प्रति इस त्रुटि के निवारण हेतु प्रायश्चित्तरूप कर्मकाण्ड का विधान करते हुए ऋषि लिखते हैं कि ब्रह्मा प्राणदेवतात्मक है जबकि अन्य ऋषि वाग्देवतात्मक है। इसलिए यदि यजमान यह मानता है कि ब्रह्मा की त्रुटि के कारण यज्ञ में परिणामहानि

---

[६] षड्विंशब्राह्मण, अध्याय ३, खण्ड १, मन्त्र १- ७

[७] वही, मन्त्र सं. ८

[८] वही, मन्त्र सं.१०

[९] वही, अध्याय ३, खण्ड २, मन्त्र सं.१

ऋत्विजों का दैवीय रूप

ऋत्विज	दिशा	प्रातःसवन	माध्यन्दिनसवन	तृतीय सवन
१. होता	१. पूर्व	१. अग्नि	१. वाक्	१. प्राण
२. अध्वर्यु	२. पूर्वपश्चिम	२. आदित्य	२. चक्षु	२. अपान
३. ब्रह्मा	३. दक्षिण	३. चन्द्रमा	३. मन	३. व्यान
४. उद्गाता	४. उत्तर	४. पर्जन्य	४. श्रोत्र	४. समान
५. सदस्य	५. मध्य	५. आकाश	५. अन्तश्चक्षु/ आत्मा/आकाश	५. अन्तःपुरुषः/ आकाश
६. होत्राशंसी	६. पञ्चर्च	६. आपः	६. अन्तश्चक्षुषि आपः	६. अन्तःपुरुष आपः
७. चमसाध्वर्यु	७. पूर्वपश्चिम	७. रश्मि	७. उच्चैः अङ्गानि	७. लोमानि

ता वा एता देवता ऋत्विजामेव वाग्भिरुपह्वयते (२/५/९)

चित्र सं. २

हुई है तो उसे हरे रंग के सुवर्ण को दर्भनाडी में बाँधकर स्रुवा में रखकर चार प्रकार से ग्रहण की गयी आज्याहुति को लेकर 'नमः प्राणाय वाचस्पतये स्वाहा' मन्त्र बोलकर चार बार आहुति प्रदान करें। और यदि ब्रह्मा के अतिरिक्त किसी अन्य ऋत्विज की त्रुटि से परिणामहानि हुई है तो पूर्ववत् हिरण्य दर्भनाड़ी में बाँधकर 'नमो वाचे प्राणपत्न्यै स्वाहा' मन्त्र बोलकर चार बार आज्याहुति प्रदान करें। और यदि ब्रह्मा सहित सभी ऋत्विजों की त्रुटि का अनुमान हो तो पर्याय से उपर्युक्त दोनों मन्त्रों का उच्चारण करते हुए चार-चार आज्याहुति प्रदान करनी चाहिए'[१०]। तत्पश्चात् हिरण्य ब्रह्मा को दे देना चाहिए तद् हिरण्यं ब्रह्मणे दद्यात्। और इस प्रकार से यज्ञ में हुई त्रुटि के निवारण हेतु यज्ञ में ही दी गयी जो दो मन्त्रों की आहुतियाँ हैं वे ही भ्रष्ट यज्ञ की प्रायश्चित्ति अर्थात् प्रायश्चित्त करने का साधन हो जाती हैं 'अथ यदाह यज्ञ वाव यज्ञस्य प्रायश्चित्तिरिति पुनर्यज्ञ एव स एते उ हुत्वेवाहुती यज्ञविभ्रष्टस्य प्रायश्चित्तिरिति'[११]।

सम्प्रति ऋत्विजों द्वारा जाने या अनजाने में हुई त्रुटियों के प्रायश्चित्तस्वरूप महाव्याहृतियों की आहुति प्रदान करने के महत्व को दर्शाने हेतु आख्यायिका[१२] कथन करते हैं कि - प्रजापति ने त्रयी वेद का सृजन कर भूः, भुवः, स्वः इन तीन महाव्याहृतियों की उत्पत्ति क्रमशः ऋग्वेद , यजुर्वेद, सामवेद से की। और यह भूः व्याहृति भूलोक, भुवः व्याहृति अन्तरिक्षलोक तथा स्वः व्याहृति स्वर्गलोक हो गयी। इन्हीं को ऋषि ने क्रमशः गार्हपत्य, अन्वाहार्यपचन (दक्षिणाग्नि) तथा आहवनीय कह दिया है। यदि ऋग्वेद से प्रकाशित कर गार्हपत्याग्नि में 'भूः स्वाहा'

---

[१०] वही, अध्याय ३, खण्ड २, मन्त्र सं.२

[११] वही, मन्त्र सं. ४

[१२] वही, अध्याय १, खण्ड ५, मन्त्र सं. ७ - १०

व्याहृति द्वारा हवन करें तो यह यज्ञ गार्हपत्य एवं ऋग्वेदलोकात्मक भूलोक को अपने रस से समृद्ध करता है। इसी प्रकार यदि यजुर्वेद से दक्षिणाग्नि में 'भुवः स्वाहा' व्याहृति द्वारा हवन करें तो यह यज्ञ अन्वाहार्यपचन यजुर्वेदलोकात्मक अन्तरिक्षलोक को अपने रस से समृद्ध करता है। और यदि सामवेद से प्रकाशित कर आहवनीय अग्नि में 'स्वः स्वाहा' व्याहृतिमन्त्र द्वारा हवन किया जाए तो यह यज्ञ अपने रस (माहात्म्य) से आहवनीय एवं सामवेदात्मक स्वर्गलोक को अपने रस से समृद्ध करता है। इस प्रकार इन तीनों अग्नियों में किसी में भी प्रकाशित कर सभी में पर्याय से उपर्युक्त व्याहृतियों द्वारा यदि यज्ञ किया जाए तो यजमान का वह यज्ञ च्युत नहीं होता। अन्यथा च्युत होने से अथवा भिन्न होने से यज्ञ तीन स्थानों में उत्क्रान्त हो जाता है - देवताओं से स्वर्गलोक में, मनुष्यों से अन्तरिक्ष लोक में तथा पितरों से पृथिवीलोक में[१३]। और यदि उसका अभिमर्श अर्थात् प्रायश्चित्त कर लिया जाए तो वह यज्ञ तीनों स्थानों पर पहुँचने के कारण उत्क्रान्त होने पर भी यजमान को द्रविण (अर्थात् बल वस्तु धन आदि) देने वाला होता है और अपने रस (माहात्म्य) से स्वयं को एवं यजमान को समृद्ध करता है 'तदभिमृशेद्देवान् दिवं यज्ञोऽगात्ततो मा द्रविणमष्टु ...'[१४]

अगले खण्ड में ब्राह्मणग्रन्थकार ऋषि उद्दालक (जिन्हें आरुणि नाम से भी जाना जाता है) एवं इन्द्र की आख्यायिका[१५] प्रस्तुत कर अभावयुक्त एवं समृद्ध यज्ञ को परिभाषित करते हैं तथा महाव्याहृतियों द्वारा त्रुटियों का प्रायश्चित्तविधान करते हैं। इनके मतानुसार अपनी

---

[१३] वही, मन्त्र सं. १२ (स्कन्नाद्वा भिन्नाद्वा त्रेधा यज्ञ उत्क्रामति...)

[१४] वही, मन्त्र सं. १३

[१५] वही, अध्याय १, खण्ड ६, मन्त्र सं. १-१६

इच्छाओं की पूर्ति के लिए किया गया यज्ञ तत्सम्बन्धी फल की समृद्धि को घटाता है 'अपि हि स्वादेव कामाद्यज्ञस्य व्यर्द्धयति'। और ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद के द्वारा किया गया यज्ञ होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा में ही उपरत हो जाता है। तदनन्तर ऋत्विजों तक सीमित यज्ञ के अन्तर्धान होने पर ब्रह्मा चाहे मौनव्रती होने की इच्छा रखें या फिर प्रमत्त होकर बोलें अथवा भूः, भुवः, स्वः इन तीनों महाव्याहृतियों का मन ही मन उच्चारण करें। लेकिन आहुति देते समय यदि इन महाव्याहृतियों का उच्चारण करेंगे तो समस्त दोषों से मुक्त होकर अमृतत्व की प्राप्ति हो जाएगी 'स हारुणिराहुतिमुद्यत्योवाच पुनः वैनान्निवप्स्यस्यतो वाव मृतोऽवाप्स्यस इति'। यहाँ संवादात्मक शैली में इन्द्र उद्दालक से प्रश्न करते हैं कि क्या हवन करोगे? तब ऋषि उद्दालक विस्तारपूर्वक कथन करते हैं कि सभी प्रकार के प्रायश्चित्त हेतु महाव्याहृतियों द्वारा आहुति प्रदान करेंगे। इसलिए यज्ञ में जानते हुए अथवा अनजाने में, किसी भी प्रकार त्रुटि हुई हो सब त्रुटियों के प्रायश्चित्तस्वरूप महाव्याहृतियों की आहुतियाँ प्रदान की जाती हैं 'स होवाच यच्चावगतं यच्चानवगतं सर्वस्यैषैव प्रायश्चित्तिरिति। तस्मादेतामेव जुहुयात्'[१६]।

इनके अतिरिक्त यज्ञ में यदि कोई मिट्टी का पात्र टूट जाए तो उसका प्रायश्चित्त करने हेतु 'भूमिर्भूमिमगान्माता मातरमप्यगाद्' मन्त्र का पाठ करना चाहिए। इससे यज्ञ एवं यजमान दोनों समृद्ध होते हैं। और यदि त्रुटि ऋत्विजों से न होकर यजमान से होती है अर्थात् जिसके लिए यजमान जिम्मेदार है तो उसे प्रायश्चित्तस्वरूप ऋत्विजों को उपहारादि देने का भी विधान है। जैसे अग्निहोत्र प्रकरण में कहा गया है कि जिस

[१६] वही, मन्त्र सं. १८,१९

यजमान की आज्याहुति मात्रा में अत्यधिक होने के कारण यज्ञ से बाहर गिर जाती है तो वह यजमान प्रमायु अर्थात् अनिपुण है। अतः उस यजमान के द्वारा ऋत्विजों को 'वर'[१७] अर्थात् कम मूल्य का उपहार देना चाहिए वही उसका प्रायश्चित्त कर्म है। जबकि जिस यजमान की आहुति मात्राधिक्य के कारण नहीं अपितु अनवधानता के कारण यज्ञ से बाहर गिर जाए तो उस यजमान का चित्त प्रमायु अर्थात् कलाहीन या अनिपुण माना गया है। अतः ऐसे यजमान के द्वारा ऋत्विजों को उत्तम कोटि का आभूषण उपहारस्वरूप देना चाहिए 'अथ यस्याज्यमुत्पूतं स्कन्दति सा वै स्कन्नानामाहुतिःततो वै यजमानःप्रमायुर्भवति वरो देयः सैव तस्य प्रायश्चित्तिरिति। अथ यस्याज्यमनुत्पूतं स्कन्दत्यसौ वा अस्कन्नानामाहुतिस्ततो वै यजमानस्य चित्तं प्रमायुर्भवति चित्रं देयं सैव तस्य प्रायश्चित्तिरिति'[१८]।

इस वर्णन के अतिरिक्त षड्विंशब्राह्मण के छठे अध्याय में कुछ अद्भुत कर्मों की शान्ति हेतु प्रायश्चित्तविधान किया गया है और ये अद्भुत कर्म दैवीय माने गये हैं।सामान्य लोकव्यवहार में इन्हें निमित्त या शकुन-अपशकुन कहा जाता है। वास्तव में देखा जाए तो लोक में भाँति-भाँति के स्वभाव वाले लोग रहते हैं। इसलिए राजा जैसे सम्प्रभु व्यक्ति के लिए भी एकाकी यह पता करना सम्भव नहीं होता कि उसकी प्रजा में कौन व्यक्ति कहाँ अधर्म के मार्ग पर चल रहा है। परिणामस्वरूप समस्त प्रजा अनेक प्रकार की दैवी, राक्षसी विपदा एवं बाधाओं से अभिभूत होती रहती है। जैसा कि महाकवि कालिदास ने भी कहा है -

---

[१७] आपस्तम्ब श्रौतसूत्र ५.११.५ (शब्दकोश Vedic Rituals Hindi)

[१८] वंशब्राह्मण, अध्याय ५, खण्ड १, मन्त्र सं. ७-८

अहन्यहन्यात्मन एव तावज्ज्ञातुं प्रमादस्खलितं न शक्यम्।
प्रजासु कः केन पथा प्रयातीत्यशेषतो वेदितुमस्ति शक्तिः॥[१९]

इस प्रकार की अद्भुत विपत्तियों के शमन हेतु यह ब्राह्मणग्रन्थ याज्ञिक उपाय बतलाता है। षष्ठ अध्याय के आरम्भ में प्रायश्चित्त शमन हेतु इन्द्र, यम, वरुण, कुबेर, अग्नि, वायु, सोम, विष्णु इन आठ देवताओं के निमित्त पलाश की आठ हजार समिधाओं से यज्ञ करने का विधान है। साथ ही सामवेद के 'इन्द्रायेन्दो मरुत्वते' आदि आठ मन्त्रों को आठ सौ बार जप करने को कहा गया है। तत्पश्चात् स्वस्तिवाचन के उपरान्त कल्याणप्राप्ति की बात कही गयी है[२०]। वास्तव में देखा जाए तो यहाँ वर्णित इन्द्रादि देवता आठों दिशाओं के अधिपति हैं। और जब चारों तरफ अपशकुन दिखाई देते हैं तो यह स्वतः अनुमान लगा लिया जाता है कि प्रजा के द्वारा कोई अनिष्ट या अनुचित आचरण जाने या अनजाने में हो रहा है तभी इस प्रकार के अद्भुत क्रिया- कलाप प्रकृति या पर्यावरण में सभी दिशाओं में दिखाई पडते हैं। अतः ऐसे अज्ञात कर्मों के (जिनका कर्ता भी ज्ञात नहीं) प्रायश्चित्त हेतु सभी दिशाओं के अधिपतियों की स्तुति की जाती है जिन्हें 'अद्भुत दैवत्य' प्रायश्चित्त कहा गया है। इनका अन्तिम अध्याय में यथोल्लिखित वर्णन इस प्रकार है[२१] -

सर्वप्रथम यजमान यथोक्त स्नात, प्रयत, शुचि आदि गुणों से युक्त होकर पूर्वाह्ण में प्रातः आहुति देकर प्राची दिशा में इन्द्र देवता की स्तुति करता हुआ स्थालीपाक की आहुति के पश्चात् 'इन्द्राय स्वाहा' इत्यादि व्याहृतियों द्वारा पाँच आज्याहुति देता है तथा सामगान करता है। यह प्रायश्चित्तीय अनुष्ठान तब करणीय है जब मणिनिर्मित आभूषणों, घटादि की क्षति हो, चित्त-पीड़ा हो, राजकुल के साथ विवाद का प्रसंग हो, यान

---

[१९] अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अंक ६, श्लोक २६

[२०] वंशब्राह्मण, अध्याय ६, खण्ड १, मन्त्र सं. २-७

[२१] वही, अध्याय ६, खण्ड २ के मन्त्रसंख्या ३ से १२ खण्ड पर्यन्त

छ्त्रादि अथवा गृहभाग भंग हो जाए अथवा हाथियों एवं अश्वों में से किसी की मृत्यु हो जाए।

जब अपने कुटुम्बियों अथवा पशुओं के शरीर में व्याधि हो, दुःस्वप्न, अनिद्रा, अतिक्षुधा या क्षुधानाश की स्थिति हो, आलस्य, अजीर्णता, निद्रा आदि अद्भुत लक्षण दृष्टिगोचर हो तो इनके प्रशमन हेतु यजमान को 'नाके सुपर्णम्' इस मन्त्र से दक्षिण दिशा के अधिपति यम को स्थालीपाक की आहुति देकर 'यमाय स्वाहा' इत्यादि पाँच व्याहृतिमन्त्रों द्वारा पाँच आज्याहुति देकर सामगान करना चाहिए।

यदि यजमान के घर या क्षेत्र में स्थित धान्यादि अन्न अतिवृष्टि, अनावृष्टि अथवा ईतियों (चूहे, टिड्डे, चींटी, तोते आदि कीट पतंग, पक्षी) द्वारा नष्ट होने लगें तो इनके प्रशमनार्थ पश्चिम दिशा के स्वामी वरुण देव को स्थालीपाकाहुति अर्पित कर 'वरुणाय स्वाहा' इत्यादि मन्त्रों से पाँच आज्याहुति देकर सामगान करना चाहिए।

इसी प्रकार स्वर्ण, रजत, वैदूर्यादि रत्नों की हानि होने पर, कृतोद्योग निष्फल होने पर, मित्रों के विद्वेष करने पर, घर में पिशाचादिजन्य उद्वेग होने पर, कष्टकर पक्षियों या दीमक आदि द्वारा घर में बसेरा बनाने पर इन उत्पातों के शमन हेतु यजमान को उत्तरदिशा में अनुवर्त्तन कर उसके अधिपति वैश्रवण अर्थात् कुबेर को स्थालीपाक की आहुति देकर पाँच व्याहृतिमन्त्रों द्वारा आज्याहुति देने के पश्चात् अन्त में सामगान करते हुए प्रायश्चित्तीय अनुष्ठान करना चाहिए।

जब पृथिवी तड़-तड़ करके फटने लगे, भूकम्प आए, अनग्नि धूम उत्पन्न हो, लावा उगलने लगे, तैरने वाली वस्तुएं डूबने लगें, डूबने वाली वस्तुएं तैरने लगें, बिना समय के पुष्प फल उत्पन्न हों, घोड़ी हथिनी आदि के गर्भ गिरने लगें, भूकम्प से राजमहल गिरने लगें और कहीं-कहीं राजा भी मर जाए, गाय, भैंस आदि घरों में घुसने लगें तो इनके शमन हेतु अग्निदेवतासम्बन्धी प्रायश्चित्त करना चाहिए। अग्नि, दक्षिणपूर्व अर्थात्

आग्नेयकोण के देवता माने जाते हैं लेकिन यहाँ दिशा का नामोल्लेख न होकर पृथिवी को दिशा के स्थान पर रखा गया है और अग्नि को स्थालीपाक की आहुति व व्याहृतिमन्त्रों द्वारा पाँच आज्याहुति देकर सामगान करते हुए प्रायश्चित्तीय अनुष्ठान करना चाहिए।

इसी प्रकार जब वायुदेव से सम्बन्धित उत्पात निमित्तरूप में प्रकट होने लगें। जैसे - वायु का अतिरेक या अभाव हो, पर्वत टूटकर गिरने लगे; पशु पक्षियों का घर में प्रवेश, आकाश में मांस, अस्थि, रुधिरादि की वर्षा हो, कौओं के दिखाई दें, रात्रिकाल में मणिधनु दिखाई दे, वृक्षों से रुधिर बहे, जंगली जानवर गाँव में घुसने लगें, आकाश में राजकुल निवास करता हुआ दिखाई दे - तब वायुदेवता सम्बन्धी प्रायश्चित्त करना चाहिए। वायुदेवता पश्चिमोत्तर दिशा अर्थात् वायव्यकोण के अधिपति माने गये हैं। लेकिन यहाँ अन्तरिक्ष को उक्त दिशा के स्थान पर रखा गया है। अतः स्थालीपाक आहुति के साथ व्याहृतिमन्त्रों द्वारा पाँच आज्याहुति देकर सामगान करते हुए वायुदेव की स्तुति उपर्युक्त उत्पातों के शमन हेतु करनी चाहिए।

इसी प्रकार जब द्युलोक सम्बन्धी उत्पात उपस्थित दिखाई दें - तारे एवं उल्कापिण्ड टूटने लगें, धूमकेतु दिखाई दें, दिशाएं जलने लगें, पृथिवी के शीर्षस्थानों (पर्वतशिखरों) पर धुआँ उठने लगे, गायों के स्तनों से रुधिर स्रवित होने लगे, अत्यधिक बर्फ पड़ने लगे, तब सोमदेवता सम्बन्धी प्रायश्चित्त करना चाहिए। सोमदेवता उत्तरपूर्व अर्थात् ईशानकोण के अधिपति माने जाते हैं। जबकि यहाँ दिवः (स्वर्गलोक) को दिशा-स्थानापन्न मानकर सोमदेवता को स्थालीपाकाहुति, व्याहृतिमन्त्रों द्वारा पाँच आज्याहुति व सामगानपूर्वक प्रायश्चित्तस्वरूप उनकी स्तुति करने का विधान है।

जब स्वप्न में अनुचित सवारी (भैंसा, गर्दभादि) दिखाई दे,

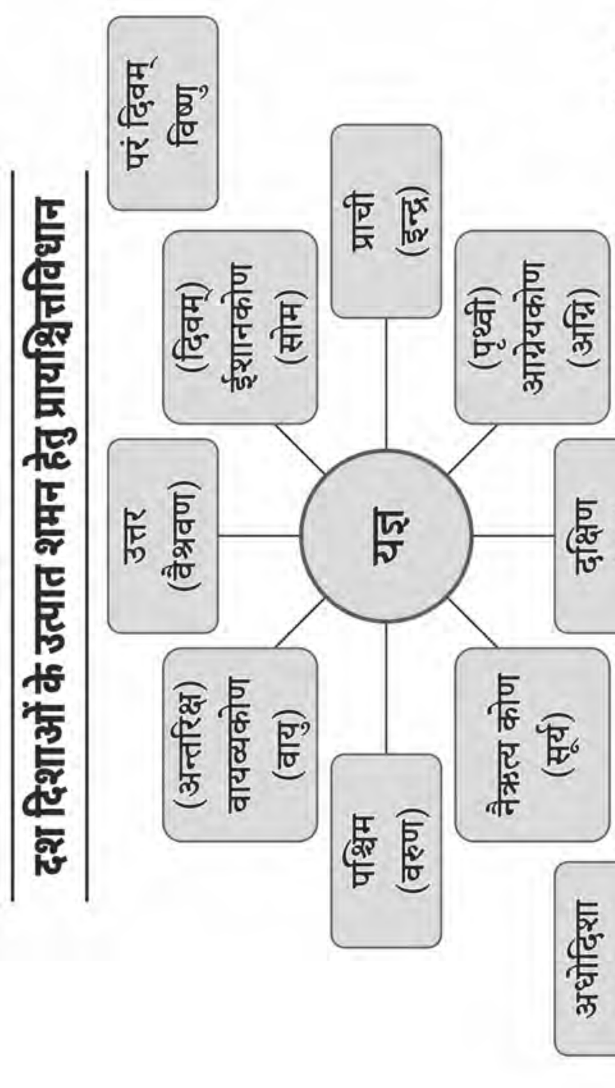
देवस्थान मन्दिरादि काँपने लगे, देवताओं की प्रतिमा हँसने, रोने, गाने, नाचने, फड़कने, स्वेदयुक्त एवं पलक झपकाते हुए दिखने लगे, नदियाँ विपरीत दिशा में बहने लगें, सूर्य में कबन्ध दिखाई दे, और जल में न दिखाई दे, केतु पताका, छत्र, वज्र, सींग, आदि प्रज्वलित हों घोड़ों की पूछों में अंगारे बुझने लगे, बिना घाव के ही मर्मस्थल दुखने लगे, तब ये विष्णु देवता से सम्बन्धित अपशकुन अनुमेय होते हैं। इनके प्रशमनार्थ विष्णु को स्थालीपाकाहुति, व्याहृतिमन्त्रों द्वारा पाँच आज्याहुति तथा सामगान करना चाहिए। इस कर्मकाण्ड में स्वस्तिवाचन के साथ ब्राह्मण भोजन तथा दक्षिणा का भी विधान है। यहाँ दिशा के रूप में परं दिवम् (द्युलोक से भी परे) का उल्लेख किया गया है जिसके देवता विष्णु हैं।

जब स्त्रियों को मनुष्य के बच्चे तथा मादा पशुओं के भैंस, बकरी, घोड़े, ऊँट आदि के बच्चों के प्रसव हों और वे हीनाङ्ग या अतिरिक्ताङ्ग अथवा विकृतरूप वाले हों, असम्भव कार्य भी सम्भव होने लगे, पर्वत चलने लगें, तब रुद्रदेवता सम्बन्धी इन अद्भुत कर्मों की शान्ति हेतु रुद्रदेवता को स्थालीपाकाहुति, व्याहृतिमन्त्रों द्वारा पाँच आज्याहुति देकर अन्त में सामगान करते हुए प्रायश्चित्तीय अनुष्ठान करना चाहिए। यहाँ रुद्रदेव अधोदिशा के स्वामी माने गये हैं जबकि वराह पुराण के अनुसार अधोदिशा के दिक्पाल शेष या अनन्त हैं तथा ऊर्ध्वदिशा के स्वयं ब्रह्मा हैं[२२]।

जब मनुष्यों को अत्यधिक धैर्यपूर्वक अतिदुःख हो, पर्वत फूटने लगे, ऊपर उछलकर आकाश से नीचे गिरने लगें, पृथ्वी काँपने लगे, विशाल वृक्ष जड़सहित उखड़कर गिरने लगें और चार या पाँच भागों में बँटने लगें, पत्थर तैरने लगें, तालाब जलने लगें तब सूर्यदेवता सम्बन्धी प्रायश्चित्त करना चाहिए। सूर्यदेवता को दक्षिण-पश्चिम अर्थात् नैऋत्य

[२२] वाचस्पत्यम् शब्दकोश (द्रष्टव्य दिक् शब्द)

कोण का दिक्पाल माना जाता है। लेकिन यहाँ सर्वदिशा-सम्बन्धी उत्पातों के शमन हेतु प्रायश्चित्तस्वरूप सूर्यदेवता को स्थालीपाकाहुति, पाँच व्याहृतिमन्त्रों द्वारा पाँच आज्याहुति देकर सामगान करने का विधान किया गया है। उपर्युक्त यज्ञ, देवता एवं दिशाओं के इस सहसम्बन्ध को **चित्र सं. ३** के द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है।



चित्र सं. ३

ताण्ड्य ब्राह्मण में निर्वचन विज्ञान

डा. अभिमन्यु[१]

समस्त विश्व के इतिहास में भारतवर्ष को ही यह गौरव प्राप्त है कि इसका साहित्य न केवल प्राचीन है अपितु स्तर की दृष्टि से आज के युग के उन्नत साहित्य में भी सुतराम् समुन्नत है। विश्व भर में वेदों से प्राचीन कोई वाङ्मय में नहीं है। इतने प्राचीन वाङ्मय का कालान्तर में उसके अर्थ और स्वरूप को यथार्थ में जानना और समझना कठिन होता ही है। अर्थ और स्वरूप की दृष्टि से बढ़ती हुई इस अज्ञानता के समाधान के लिए भारतीय मनीषियों ने विभिन्न दृष्टियोंसे वेद के अध्ययन अध्यापन को प्रारम्भ रखा। आने वाली पीढ़ियों की सुविधा और अपने प्राचीन वाङ्मय की रक्षा को ठोस रूप देने के लिए उन्होंने वेद अध्ययन की उन विभिन्न दृष्टिओं का वर्गीकरण किया तथा प्रत्येक वर्ग के अध्ययनों के फलितार्थों को लिखित रूप देकर मानव जाति का अकल्पित उपकार किया। वेद अध्ययन की उन दृष्टियों में एक दृष्टि का नाम निरुक्त है। वैदिक भाषा की जटिलता और कठिनता के कारण जब हमारे पूर्वजों की भाषा पर पकड़ ढीलीहोने लगी, शब्दों के अर्थ काल के व्यवधान के कारण जब धुंधले

[१] **सहाचार्य, संस्कृत विभाग, कला संकाय, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, २२१००५**

पढ़ने लगे, तब उन शब्दों को स्पष्ट करने के लिए निर्वचन पद्धति या निरुक्त पद्धति का आविष्कार हुआऔर इस पद्धति के विकास की प्रेरणा भी हमारे मनीषियों को वैदिक साहित्य से ही मिली। पंडित शिव नारायण शास्त्री का मानना है कि अकेली ऋग्वेद संहिता (शाकल शाखा) में ही १२ सौ से अधिक एक ही धातु से निष्पन्न नाम और आख्यातों के इस प्रकार के प्रयोग हैं, कि जिनसे सिद्ध होता है कि ऋषियों ने जानबूझकर शब्द का निर्वचन करने के लिए ही यह प्रयोग किए हैं। अन्य संहिता तथा ब्राह्मण ग्रन्थ भी न केवल इस प्रकार के प्रयोगों से भरे पड़े हैं, अपितु निर्वचन की पद्धति के विकास के चरण न्यास के स्पष्ट दर्शन हमें इनमें होते हैं- जैसे-

ऋग्वेद संहिता में १. **हूयते हविः** (१/१३४/१०/), २. **पिपर्ति पपुरिर्नरा** (१/४६/४), ३. **उषा उच्छद्** (१/४८/८), ४. **अर्चामार्कम्** (१/६२/१)। कपिष्ठल संहिता में ५. **सदसि सीद** (१/११), ६. **परिधि पर्यधत्था** (१/१२), ७. **वाससी इव विवसानौ** (५/२), ८. **अन्नमत्ति** (५/५)

इस प्रकार मन्त्र संहिताओं में भी अनेक निर्वचन उपलब्ध होते हैं, किन्तु इस प्रक्रिया का विधिवत् प्रारम्भ ब्राह्मणों में ही हुआ है।[२] यास्क ने भी अपनी निरुक्तियों की प्रामाणिकता प्रदर्शित करने के लिए स्थान स्थान पर '**इति ब्राह्मणम्**' तथा '**इति ह विज्ञायते**' सदृश कथनों का आश्रय लिया है।[३]

---

[२] 'निर्वचन' तथा 'निरुक्ति' शब्द सर्वप्रथम सामवेदीय ब्राह्मणों में ही आये हैं- (देवताध्याय ब्राह्मण ३.१ तथा छा. उप. ८.३.३) सामवेदीय ब्राह्मणों का परिशीलन- पृ. ३१९

[३] निरुक्त- १.३.८, २.५.१७ इत्यादि

भाषा-शास्त्र की एक विशिष्ट शाखा को प्रकट करने के लिए 'निरुक्त' और 'निर्वचन' ये दोनों ही शब्द अपने इस योगरूढ़ अर्थ में वैदिक संहिताओं तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रसिद्ध नहीं हो पाए थे। संहिताओं में अथर्ववेद संहिता (९/८/१०) में "**निरवोचम्**" का प्रयोग हुआ है। इसी वेद की पैप्लाद शाखा (१६/७५/२) में इसकी व्याख्या **निर्मन्त्रयामहे** (मन्त्र से निकालकर बाहर करते हैं) की है। याजुष काठक (६/५) और मैत्रायणी संहिताओं (१/११/९) में निरुक्त शब्द का प्रयोग यौगिक = स्पष्टतया निरुपित अर्थ में ही हुआ है। शास्त्रविशेष अर्थ में नहीं। इसी प्रकार शांख्यायन (८/३/) आदि प्राचीन ब्राह्मणों में भी निरुक्त शब्द का प्रयोग इसी प्रकार यौगिक अर्थ में ही हुआ है। सामवेद के देवताध्याय ब्राह्मण (३/१) में 'निर्वचन' शब्द पारिभाषिक अर्थ में ही हुआ है। उसके तीसरे खण्ड में **अथातो निर्वचनम्** (३/१) कह कर गायत्री, उष्णिक् आदि छन्दों का निर्वचन ठीक उसी प्रकार किया गया है, जिस प्रकार निरुक्त (७/१२, १३) में किया गया है। अन्तर यही है की निरुक्त में इस प्रकरण में निर्वचन शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। अपितु दूसरे अध्याय के प्रारम्भ में '**अथ निर्वचनम्**' (२/१) कहकर निर्वचन के सिद्धान्त दिए गए हैं। अन्य ब्राह्मणों में पारिभाषिक अर्थ में इस शब्द के न मिलने के आधार पर यह निस्सन्दिग्ध है कि देवताध्याय ब्राह्मण प्राचीन ब्राह्मणों की कोटि का नहीं है। किन्तु निरुक्त से यह प्राचीन है या अर्वाचीन इस विषय में कोई निर्भ्रान्त प्रमाण नहीं है। पण्डित शिवनारायण शास्त्री का मानना है कि देवताध्याय ब्राह्मण की अपेक्षा निरुक्त प्राचीन है।

मुण्डक उपनिषद् (१/५) में अपरा विद्या के प्रसंग में गिनायी गयी छह विद्याओं में निरुक्त को भी चौथे स्थान पर गिनाया गया है।

छान्दोग्योपनिषद् (८/३/३/) में 'हृदय' के निर्वचन को ही निरुक्त कहा गया है- **स वा एष आत्मा हृदि। तस्यैतदेव निरुक्तं हृदयमिति। तस्माद् हृदयम्।** इस विवरण से यह सिद्ध होता है कि दोनों शब्द प्राचीन साहित्य में ब्राह्मणों के समय तक शास्त्रविशेष के रूप पारिभाषिक अर्थ में रूढ़ नहीं हो पाए थे, पर उपनिषदों के समय तक हो गए थे।

ब्राह्मण-ग्रन्थों में निरुक्त शब्द का प्रयोग शब्द शास्त्र की निर्वचन शाखाया निरुक्तशास्त्र के लिए नहीं हुआ है, अपितु देवताओं के स्वरूप का निरूपण अर्थ में हुआ है। जिस देवता या उससे सम्बद्ध वस्तु का स्वरूप स्वतः स्पष्ट हो या स्पष्ट रूप से निरूपित या प्रतिपादित किया गया हो, उसे ब्राह्मणों में निरुक्त कहा गया है। अतः ब्राह्मणों में निरुक्त शब्द का प्रयोग देव विद्या के सन्दर्भ में ही आया है, यह निस्संकोच कहा जा सकता है। अन्य साक्ष्यों से भी इस निष्कर्ष की पुष्टि होती है। छान्दोग्य उपनिषद् (७/१/२) में आए 'देवविद्या' शब्द का अर्थ आचार्य शंकर ने निरुक्त किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि शंकराचार्य के मत में निरुक्त शास्त्र का विषय देवविद्या था। यास्काचार्य के निरुक्त से भी इसी निष्कर्ष की पुष्टि होती है। उनके निरुक्त के १४ अध्यायों में से मात्र ६ अध्यायों में अर्थात् समूचे निरुक्त के आधे से भी कम भाग में, शब्दों का भाषाशास्त्रीय निर्वचन किया गया है और शेष भागों में देवताओं का निरूपण किया गया है। निर्वचनवहाँ अवश्य है, पर प्रमुखता देव विद्याकी ही है। यही कारण है कि शेष भाग का नाम भी उन्होंने दैवतकाण्ड रखा है। इससे सिद्ध होता है कि यास्काचार्य के निरुक्त के दो प्रतिपाद्य हैं- १. शब्दों का भाषा शास्त्रीय निर्वचन और २. वैदिक देवताओं का स्पष्टीकरण। ब्राह्मणों में निर्वचन बहुतायत से मिलते हैं। इससे स्पष्ट है कि इस साहित्य के प्रवक्ता आचार्य निरुक्तशास्त्र के इस भाषा शास्त्रीय रूप

से भलीभांति परिचित हैं। अन्तर यही है किवहाँ निरुक्त शब्द का प्रयोग इस अर्थ में नहीं मिलता, पर इसके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता है कि उस समय शब्द-शास्त्र परक अर्थ में निरुक्त शब्द का प्रयोग नहीं होता था।

प्रकृत स्थल पर ताण्ड्य ब्राह्मणगत निर्वचनों का उल्लेख है, जिनसे यह सिद्ध होता है कि शब्दों के अभिव्यक्ति सामर्थ्य और सौंदर्य को विवृत करने के लिए ऋषियों ने अत्यन्त पुरातन काल से ही इस विधा का आश्रय लेना प्रारम्भ कर दिया था। आचार्य ओमप्रकाश पाण्डेय के अनुसार सामवेदीय कौथुमशाखीय ताण्ड्य आदि ब्राह्मणों में कुल ७६ निर्वचन हैं, जिनका पृथक् पृथक् विवरण इस प्रकार है- ताण्ड्यब्राह्मण -४५, षड्विंश - ०५, सामविधान - ०१, देवताध्याय -१५, छान्दोग्यब्राह्मण (केवल उपनिषद् भाग में) -१०। ताण्ड्यगत निरुक्तियों में सर्वाधिक है -सामों के नामों की। इन ३२ निर्वचनों के माध्यम से ताण्ड्यकारने साम-नामों में निहित गौरव को प्रदर्शित करने की चेष्टा की है। अन्य निर्वचनों में आठ-याग नाम उल्लेख्य हैं। शेष सामान्य निरुक्तियाँ हैं।[४]

अप्तोर्यामन् - यङ्कामङ्कामयते तमेतेनाप्नोति। तदप्तोर्य्याम्नोऽप्तोर्यामत्वम्।[५] लौकिक संस्कृत में सामान्यतः इसका विग्रह होगा - **अप्तोः (शरीरस्य पावकत्वात्) याम - नियम इव** शरीर को शोधित करने वाले नियम के समान।

जैमिनीय ब्राह्मण में इसका निर्वचन इस प्रकार प्राप्त होता है - **तैः एवैनान् आध्वात्मनि अयच्छत्। यद् आप्त्वात्मन्ययच्छत**

---

[४] सामवेदीय ब्राह्मणों का परिशीलन, पृ. ३१९

[५] ताण्ड्य ब्राह्मण, २०/३/४-५

तस्मादप्तोर्याम।[६] इन दोनों ही निर्वचनों में निम्नलिखित धातुओं का प्रयोग हुआ है-

आप्लृ व्याप्तौ + यमु उपरमे, आप्लृ व्याप्तौ + इण् गतौ, अप + तुर् त्वरणे + इण गतौ।

अभिजित् - देवासुराः संयत्ता आसन्, ते देवास्तस्मिन् नक्षत्रेऽभ्यजययन्, यदभ्यजयन् तदभिजितोऽभिजितत्वम्।[७]

अथाभिजिदभिजिता वै देवा इमान् लोकानभ्यजयन्। [८]

सोऽकामयत यन्मेऽनभिजितं तदभिजयेयमिति स एतमभिजितमपश्यत्तेनानभिजितमभ्यजयत्। यदभिजितद् भवत्यनभिजितस्याभिजित्यै। [९]

जैमिनीय ब्राह्मण में इसका निर्वचन इस प्रकार प्राप्त होता है -

तेनेमान् लोकान् अभ्यजयन् अजयन् स्पर्धां भ्रातृव्यान् असुरान्। तद् यद् इमान् लोकान् अभ्यजयन् तदभिजितोऽभिजित्त्वम्। [१०]

यद्यपि जैमिनीय ब्राह्मण और ताण्ड्यमहाब्राह्मण की विषयवस्तु एक है तथापि जैमिनीय ब्राह्मण की भाषा अधिक सरल, स्पष्ट और विस्तृत विवेचन करने वाली है वहीं ताण्ड्यमहाब्राह्मण की भाषा अधिक संश्लिष्ट, सम्बद्ध और सुगठित है।

धात्वर्थ की दृष्टि से **अभि + जि जये। अभिमुखीभूय जयति शत्रून् अभि + जि + क्विप्।**

---

[६] जैमिनीय ब्राह्मण, २/११०

[७] ता. ब्रा., १/५/२,३,४,

[८] वही, २२/८/४

[९] वही, १६/४/६-७

[१०] जै. ब्रा., २/१७८

अभिनिधनम् - अभिनिधनेन वा इन्द्रो वृत्राय वज्रं प्राहस्तमस्तृणुतस्तृणुते भ्रातव्यमभिनिधनेन तुष्टुवानः।[११]

यद् वा एवास्मा एतेन साम्ना कण्वोऽभीति वज्रं अभ्यनदत्, तस्मात् अभिनिधनं काण्वं इत्याख्यायते।[१२]

अभि+णद् अव्यक्ते शब्दे।

अभिवर्तो ब्रह्मसाम भवति। अभीवर्तेन वै देवाः स्वर्गलोकमभ्यवर्त्तन्त यदभीवर्त्तो ब्रह्मसाम भवति स्वर्गस्य लोकस्याभिवृत्यै।[१३] देवों ने इसके द्वारा स्वर्ग लोक की प्राप्ति की।

अभीवर्तेन वै देवा असुरानभ्यवर्त्तन्त यदभीवर्त्तो ब्रह्मसाम भवति भ्रातृव्यस्याभिवृत्यै।[१४]

जैमिनीय ब्राह्मण में अभीवर्त का निरूपण इस प्रकार किया है- **अभिवर्तो ब्रह्मसाम भवति। अभीवर्तेन वै देवा इमान् लोकान् अभ्यवर्त्तन्त। यद् अभ्यवर्त्तन्त तद् अभीवर्त्तस्याभीवर्त्तत्वम्।**[१५]

यद् अभ्यवर्त्तन्त तद् अभीवर्त्तस्याभीवर्त्तत्वम्। तद् यद् अन्नाभीवर्तो भवति वज्रो वा अभीवर्तो वज्रेणैव तद् द्विषन्तं भ्रातृव्यं अभिवृत्योत्तिष्ठन्ति।[१६]

अभि+वृतु वर्तने। आभिमुख्येन वर्त्तते।

अन्नम् - अन्नं वै सप्तदशो यत्सप्तमध्ये भवन्ति

---

[११] ता. ब्रा., १४/४/५

[१२] जै. ब्रा., ३/१८९

[१३] ता. ब्रा., ४/३/१-२

[१४] वही. ८/२/८

[१५] जै. ब्रा., २/३८०

[१६] वही, ३/२९४

पञ्चपञ्चाभितोन्नमेव तन्मध्यतो धीयतेऽनशनायुको यजमानोभवत्यनशनायुकाः प्रजाः।[17]

तदाहुर्मध्यतः संवत्सस्योपेत्यं मध्यतो वा अन्नं जग्धं धिनोति।[18]

अन्नमु वै चन्द्रमाः। अन्नेन अशनयां घ्नन्ति।[19]

अद् भक्षणे- अद्यते इति अद+ क्त, अन प्राणने, आ+णम प्रह्वत्वे नमत्वे इत्यर्थः।

अन्नादः - अन्नमत्त्यन्नादो भवति य एवं वेद।[20]

अत्त्यन्नं अन्नादो भवति।[21]

अन्नमत्ति अन्नादो भवति।[22]

अन्न+ अद भक्षणे + अण् - अन्नमत्तुं शक्नोति। छान्दोग्योपनिषद् में **अन्नवानन्नादो भवति य एवं विद्वानिति** ऐसा प्राप्त होता है।

अर्कः - अन्नं वै देवाः अर्क इति वदन्ति। रसमस्य पुष्पमिति स रसमेवान्नाद्यमवरुन्धेऽर्कपुष्पेण तुष्टुवानः।[23]

आचार्य यास्क ने इसका निर्वचन इस प्रकार किया है - **अर्को देवो भवति यदेनमर्चन्ति। अर्को मन्त्रो भवति यदनेनार्चन्ति। अर्कं अन्नं भवति यदर्चति यदर्चति भूतानि। अर्को वृक्षो भवति ....।**[24] इस

---

[17] ता. ब्रा., २/७/७

[18] वही, ४/१०/३

[19] जै. उ. ब्रा., १/१/३/४

[20] ता. ब्रा., १९/११/०५

[21] जै. ब्रा., १/२०४

[22] षडविंश ब्रा., २/१/१४

[23] ता. ब्रा., १५/३/२३

[24] निरुक्त, ५/४

प्रकार के कुछ निर्वचन ताण्ड्य ब्राह्मण में केवल अर्थ को स्पष्ट करने के लिए ही प्रयुक्त हुए हैं।

अरिष्टः- त एतदरिष्टमपश्यंस्ततोऽयं देवानाम्घनत् संसोऽभवद्यमसुराणान्नससमभवदनेन नारिषामेति तदरिष्टस्यारिष्टत्वमरिष्ट्या एवारिष्टमन्ततः क्रियते। [२५]

इस साम प्रयोग से शत्रु हिंसित नहीं कर सकते। जैमिनीय ब्राह्मण में इसका निर्वचन बड़े विस्तार के साथ दिया हुआ है।

तासु अरिष्टं यज्ञस्यैवारिष्टयै। यद् ह वै किञ्च यज्ञस्य दुष्टुतं दुश्शस्तं विधुरं तस्य ह वा एतद् अरिष्ट्यै। अरिष्टो ह वा एतेन यज्ञः। देवाः वा एतं द्वादशरात्रम् अतन्वत। तेषां तेषां यद् यद् अरिष्यत् तद् अरिष्टेनारिष्टं अकुर्वत। तद् अरिष्टस्य अरिष्टत्वम्। [२६]

अ (नञ् समास पूर्वक) रिष हिंसायाम् + क्त, ऋ गतिप्रापणयोः।

आज्य - आजिमस्मिन्नितेति त आजिमायन्यदाजिमायस्तदाज्यानामाज्यत्वम्।[२७] **आजि + इण् गतौ** - आजि शब्द से, जिसका अर्थ है **मर्यादा - आजि - मर्यादा, आजेः मर्यादायाः सरणं धावनम्** - शंकरभाष्य (वाचस्पत्यम्) प्रतियोगिता के लिए निश्चित सीमा को (दौड़कर) प्राप्त किया। यहाँ आज्य का निर्वचन घृत अर्थ के बोधक (आ + अञ्ज + क्यप् - नलोप) आज्य से भिन्न है।

आज्यदोह -आजिमस्मिन्नेतेति त आजिमायन्यदाजिमायंस्तदाज्यानामाज्यत्वम्।[२८] इस आज्यदोह पद का

---

[२५] ता. ब्रा., १२/०५/२३

[२६] जै. ब्रा., ३/५५

[२७] ता. ब्रा., ७/२/१

[२८] वही, ७/२/१

निर्वचन ब्राह्मणकार अन्यत्र "आच्य" पद के द्वारा करते हैं-

अथ निर्वचनद्वारा एतानि प्रशंसति - एतैर्वै सामभिः प्रजापतिरिमान् लोकान् सर्वान् कामान् दुग्ध यदाच्या दुग्ध तदाच्या दोहानामाच्या दोहत्वम्। [२९] **अर्थात् - .....यदयस्मादाच्या लोकिको दोग्धा जानुनीमाच्य दुग्धे तत् प्रजापतिरपि जानुनी चक्रे कृत्वा सामाभ्यां दुग्ध तत् तस्मादाज्यदोहानां साम्नामाज्यदोहत्वं सम्पन्नम्** (सायणभाष्य) अर्थात् घुटने मोड़कर दूध दुहने की क्रिया से यह नामकरण सम्पन्न हुआ। जामिनीय ब्राह्मण में भी इसका विवेचन है। वहाँ आजि का अभिप्राय - प्राण, पशु, अग्नि, वायु, आदित्य बताते हुए लोक अर्थ में स्वीकृत किया है। उन्हीं के दोहन से यह साम सम्बद्ध है -

प्राणा वा आजिदोहानि। यद् अन्वहम् आजिदोहानि भवन्ति प्राणेष्व एव तत् प्रतितिष्ठति। .... इमे वै लोका आजयो नाम। एतेषां एते दोहाः। दुह इमान् लोकान् य एवं वेद।[३०]

आमहीयव - अमहीयन्त यदमहीयन्त तस्मादामहीयवम्। [३१] **अमहीयन्त अपूज्यन्त स्वाभिः प्रजाभिः यदमहीयन्त येन साम्ना सृष्टास्तस्मादामहीयवमिति (सायणभाष्य)।** आङ्+मह् पूजायाम्, साम के सृष्ट प्रजा ने इससे महत्त्व प्राप्त किया।

गौङ्गवम् - अग्निरकामयतान्नादः स्यामिति स तपोऽतप्यत स एतद् गौङ्गवमपश्यत् तेनान्नादोऽभवद्यदन्नं वित्वा (लब्ध्वा) गर्द्दयदगङ्गूयत्तद् गौङ्गवस्य गौङ्गवत्वमन्नाद्यस्यावरुध्यै गौङ्गवम् क्रियते।[३२] इस पद का

[२९] वही,२१/२/५

[३०] जै. ब्रा., २/२५५

[३१] ता. ब्रा., ७/५/१

[३२] वही, १४/३/१९

निर्वचन दो धातुओं से किया गया है। प्रथम - **यदगङ्गूयदिति - गङ्ग अव्यक्ते शब्दे (गुङ् अव्यक्ते शब्दे) अगङ्गूयत् - अव्यक्तं शब्दं अकरोत् तस्मात् गौङ्गवस्य साम्नोगौङ्गवत्वं गौङ्गवमिति नाम सम्पन्नम्।** द्वितीय- **यदगर्द्दत् शब्दं अकरोत् गर्द शब्दे इति धातुः** (सायणभाष्य)। यह द्वितीय धातु से निष्पन्न पद अतिपरोक्षवृत्ति का स्पष्ट उदाहरण है।

जैमिनीय ब्राह्मण में यह पद "गंगणि" से निष्पन्न माना गया है - **गौङ्गवेन वै देवा असुरान् हत्वा घोषं गंगणिम् अकुर्वत्। तद् व् एव गौङ्वस्य गौङ्वत्वम्।**[३३]

पराक् - पराङेवैतेन (पराङ् एव एतेन) स्वर्गं लोकमाक्रमते। यद्वा एतस्याकन्तदस्य पराक् तत् पराक्तस्य पराकत्वम्।[३४] **यदेवतस्य भूलोकस्य तत् स्थस्य पुरुषस्य अकन् दुःखन्तदस्य स्वर्गस्य प्राप्तवतः पुरुषस्य पराक् तम् = न्यग्भूतं भवति पराग् भूतमकन्दुःखं त्रिरात्रेण भवति परागित्युत्पत्तिः (सायणभाष्य)। पराक् = न्यग्भूत्।** इससे व्यक्ति का दुःख कम हो जाता है।

जैमिनि ब्राह्मण में इसका निर्वचन और अधिक स्पष्ट रूप से किया गया है -

पराञ्चेव स्तोत्राणि भवन्ति, पराञ्चि शस्त्राणि, पराञ्चि पृष्ठानि, पराचीर्विष्टुतयः, परानेव सर्वो भवति।

परा अञ्चति इति (परा+अञ्च+क्विप्) प्रतिलोमगमनाश्रयः।

इस प्रकार इन उपलक्षणमात्र प्रदत्त उदाहरणों के द्वारा निम्नलिखित तथ्य निर्गलित होते हैं -

---

[३३] जै. ब्रा., ३/१८५

[३४] ता. ब्रा., २१/८/२-३

ब्राह्मणों में निर्वचन परम्परा का विकास जहाँ अभिव्यक्ति सौष्ठव तथा सौकर्य का प्रतिपादक है वहीं दूसरी ओर पारिभाषिक शब्दावली की व्याख्या करने वाले एक समर्थ तथा सशक्त साधन के रूप में भी दिखलाई देता है।

यहाँ शब्दों के भाषिक स्वरूप ध्वन्यर्थादि को स्पष्ट करने का पूर्ण प्रयास किया गया है।

शब्द संरचना प्रकृति, प्रत्यय, समासादि के साथ-साथ उस शब्द के द्वारा लौकिक व्यवहार की प्रयोगवत्ता की ओर भी संकेत किया गया है।

निर्वचनों में लोकव्यवहारत्व प्रदर्शित करने के लिए आख्यायिकाओं और लोकोक्तियों का आश्रय लिया गया है। शब्द और अर्थ के मध्य विद्यमान सम्बन्ध को हेतु पूर्वक दर्शाया गया है। निर्वचन की रीति पूर्व ग्रंथों की अपेक्षा अधिक विकसित तथा स्पष्ट है।

अधिकांश निर्वचन त्रिविध शब्द व्याख्या[३५] की जिस परम्परा का उल्लेख आचार्य यास्क ने किया है और जिसका संकेत वेदों में प्राप्त होता है उसका पल्लवन और विकसन ब्राह्मण ग्रन्थों में हो गया था। यद्यपि अधिकांश निर्वचन शब्दव्युत्पत्ति प्रक्रिया के सन्दर्भ में अपने स्वरूप को तत्काल प्रकट कर देते हैं किन्तु कुछ निर्वचन अपने प्रकृति और संस्कार आदि से दूर होने की कारण व्याख्या सापेक्ष भी हैं।

[३५] त्रिविधा हि शब्दव्यवस्था प्रत्यक्षवृत्तयः परोक्षवृत्तयः अतिपरोक्षवृत्तयश्च। तत्रोत्कटक्रियाः प्रत्यक्षवृत्तयः, अन्तर्लीनक्रियाः परोक्षवृत्तयः। (निरुक्त १/१ पर दुर्गटीका)

सामवेदे सङ्गीतकलाविमर्शः

डा. गगनचन्द्रदे[१]

विश्वसाहित्यस्य प्राचीनतमाः ग्रन्थाः वेदाः सन्ति। आर्यधर्मस्य आर्यदर्शनस्य च जीवनं वेदाः सन्ति। वेदाः खलु ज्ञानराशयः। संस्कृतवाङ्मये वेदानां स्थानं सर्वोपरिवर्तते। अखिल-भूमाण्डलेऽस्मिन्समुपलब्धेषु विविधभाषागतप्राचीनग्रन्थेषु वेदः सर्वेभ्यः प्राचीनतम इति सर्वैरेव अङ्गीक्रियते। अतएव महर्षिणा सायणाचार्येण कृष्णयजुर्वेदीयभाष्यभूमिकायां परिभाषारूपमिदं कथितम् -

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तुपायो न विद्यते।
एनं विन्दन्ति वेदेन तस्मात् वेदस्य वेदता॥[२]

सर्वमतावलम्विनः प्राच्याः पाश्चात्याः विद्वांसः एकमत्या स्वीकुर्वन्ति यद् वेदाः अखिलविद्यानाम् आकरभूता विराजन्ते। वेदार्थानुशीलनाद् ज्ञायते यद् वेदा हि अस्माकं पथपदर्शकाः, भारतीयसंस्कृतेः आधाररूपा, विश्वहित-सम्पादकाः, विविधज्ञानविज्ञानराशयः, कर्तव्याकर्तव्यावबोधकाः, शुभाशुभनिदर्शकाः, मानवजीवनस्य उन्नायकाः, मानवव्यवहारसञ्चारकाः

---

[१] **सहायकाचार्यः, संस्कृतविभागः, सवं सजनीकान्तमहाविद्यालयः, पश्चिममेदिनीपुरम्, पश्चिमवङ्गः**

[२] कृष्णयजुर्वेदभाष्यभूमिका

सुखशान्तिसाधकाः, ज्ञानलोकप्रसारकाः नैराश्यविनाशकाः, परिवेशं विशोधकाः, सङ्गीतकला-परिपूर्णाः चतुवर्गफलप्राप्तिसोपानस्वरूपाश्चसन्ति।

गीतिषु सामाख्या इति जैमिनिः सूत्रयामास गीत्यात्मका मन्त्राः सामसंज्ञका भवन्ति। **'सा च अमश्चेति** तत् साम्नः सामत्वम्' अर्थात् या ऋक् अमो नाम स्वरः यत्र भवति तस्मात् इति, साम ऋगाश्रितं भवति- ऋच्य साम गीयते। ऋक्षु साम गीयते। ऋक्-साम्नी दम्पती स्तः। ऋक् साम्नो संबद्धः शाश्वतिकः, यथोक्तमथर्ववेदे -

अमोऽहमस्मि सात्वं सामाहमस्मृकत्वं द्यौरहं।
पृथिवीत्वं ताविह संभवाव प्रजामाजनयावहै॥[३]

उपर्युक्तमन्त्रेण स्पष्टं यत् सामगानाय योनिमन्त्रः ऋग्वेदस्य भवति योनि मन्त्रः अर्थात् आधारः। ऋक् अर्थात् स्त्रीरूपा अमः (स्वरः) पुंरूपः मीमांसायां शबरस्वामी लिखति-

विशिष्टा काचित् गीति सामेत्युच्यते।

सामवेदस्य महत्त्वं सर्वेषु शास्त्रेषु उपन्यस्तम्। यथा श्रीमद्भगवद्गीतायाम्-

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।[४]
बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।[५]

शतपथब्राह्मणे - **ना सामा यज्ञोऽस्ति। तथा च सर्वेषां वै एष वेदानां रसो यत् साम।**

यजुर्वेदसंहितायां मृगचर्मणः प्रशंसायामुक्तम् -

ऋक्सामयोः शिल्पेस्थस्तेवामरमेतेमापातमास्य यज्ञस्य द्दचः।[६]

---

[३] अथर्ववेदः - १४/२/७१

[४] श्रीमद्भगवद्गीता - १०/२

[५] तत्रैव - १०/३५

[६] यजुर्वेदः - ४/९

भगवता पतञ्जलिः सामवेदस्य सहस्रशाखानां गणनां कृतवान्। यथोक्तं महाभाष्यस्य प्रथमाह्निके -

महान् शब्दस्य प्रयोगविषयः सप्तद्वीपा वसुमती त्रयो लोकाः, चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधा भिन्ना एकशतमध्वर्युशाखाः सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यं, नवधाऽऽथर्वणो वेदः ।[७]

लोकेषु सद्हेतोपासनावृत्तिः अनादिकालादेव दृश्यते। लोकजीवनस्य मुख्याधारः सङ्गीतकला वर्तते। सङ्गीतं विना लोकजीवनं नीरसं व्यर्थञ्च प्रतिभाति। यथार्थेनोक्तम् -

साहित्यसङ्गीतकलाविहीनः साक्षात्पशुपुच्छविषाणहीनः ।

जीवनस्य लोकोत्तरमानन्दमनेनैव प्राप्यते। कं सुखं लातीति कला। सर्वेषां लक्ष्यमासीत् परमानन्देरुपलब्धिः। कला परमानन्दस्य प्राप्तेः साधनमस्ति। यथार्थमेवोक्तम् - लीयते परमानन्दे ययात्मा सा परा कला। लोके सङ्गीतशास्त्रं सामवेदादेव प्रवर्तितम्। अस्य सर्वोत्कृष्टं प्रमाणमाचार्यभरतमुनेः नाट्यशास्त्रं वर्तते-

जग्राह पाठ्यं ऋग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च ।

सङ्गीतरत्नाकरे श्रीशार्ङ्गदेवेनापीदमेवमुच्यते -

सामवेदादिदं गीतं संजग्राहः पितामहः ।[८]

सङ्गीतशास्त्रस्य उद्भवः सामवेदादिति निश्चप्रचम्। सामगाः विद्वान् यज्ञे सप्तस्वरज्ञानपूर्वकं देवानाह्वयति। विदुषः आह्वानं सामगानं च श्रुत्वा स देवः झटिति यज्ञं प्राप्नोति आगत्य च वर्हिषि उपवेषनं विदधाति। उद्गातृनामकं ऋत्विक् यज्ञे सामगानमुपस्थापयति। श्रौतसूत्रे कर्मभेदेन

---

[७] व्याकरणमहाभाष्यम् पस्पशाह्निकम्।

[८] सङ्गीतरत्नाकरः - १/२५

अन्येषामपि ऋत्विजां सामगानं विहितम्। परन्तु सामगानाय प्रमुखः उदगाता भवति। सामवेदे सङ्गीतकलायाः विशिष्टं स्थानं वर्तते। तत्कालीना ऋषयः सङ्गीतशास्त्रे निपुणा आसन्। अतः सामवेदीयसङ्गीतस्य सन्दर्भे उपलब्धसामग्रीविषये च जिज्ञासा भवति। सामवेदीयब्राह्मणग्रन्थानुसारं स्वर एव साम्नः सर्वस्वं वर्तते। यथोक्तम् -

स्वरेण सम्पाद्य उदगायेद्। एतद् वै साम्नः स्वं यत् स्वरः।
स्वेनैवेनत् तद् समृद्धयति। एतद् वै साम्नः प्रियं धाम यत् स्वरः।[१]

अनेन प्रतीयते यत् वैदिककाले सङ्गीतस्य प्रक्रिया बहुविकसिता। याज्ञवल्क्यशिक्षायामुल्लिखितं यत् सप्तस्वराः सामवेदे भवन्ति-

गान्धर्ववेदे ये प्रोक्ताः सप्तषडजादयः स्वराः।
ता एव वेदे विज्ञेयास्त्रय उच्चादयः स्वराः॥
उच्चौ निषादगान्धारौ नीचावृषभधैवतौ।
शेषास्तु स्वरिता ज्ञेयाः षडजमध्यमपञ्चमाः॥

एतदनुसारं निषादगान्धारयोः उदात्ते, ऋषभधैवतयोः अनुदात्ते, षड्जमध्यमपञ्चमानां स्वरितेऽन्तर्भाव। अयमेव अन्तर्भावप्रकारः अन्यास्वापि शिक्षासु प्रतिपादितः, इदमत्र वक्तव्यं यद् अनेकैः शिक्षाकारैः उक्तरीत्या उदात्तादिषु षडजादीनामन्तर्भावः उक्तः परन्तु अयम् अन्तर्भावः कदा दृष्ट्या अर्थात् उदात्तस्य निषादगान्धाराभ्यां किं साम्यम् एवम् अनुदात्तादेः ऋषभार्दिभिः सह किं सामञ्जस्यम्? यन्मूलको निषादादीनाम् उदात्तादिषु अन्तर्भावः इत्येतद् कयापि शिक्षया न स्पष्टीकृतम्।

---

[१] जैमिनीयशिक्षा - १/११२

सप्तस्वराः-निषाद-गान्धार-ऋषभ-धैवत-षडज-मध्यम-पञ्चमादयः। त्रयो ग्रामाः यथा- मन्द्रः, मध्यमः, तीव्रः। एकविंशति मूर्च्छनाः भवन्ति। अत एवोक्तं नारदीयशिक्षायाम्-

सप्तस्वरास्त्रयो ग्रामाः मूर्च्छनास्त्वेकविंशतिः।
तानाएकोनपञ्चाशदित्येतत्स्वरमण्डलम्॥[१०]

सप्रस्वराणां सामविधानब्राह्मणग्रन्थे पृथक् नामकरणं प्राप्यते तद्यथा -क्रुष्टः, प्रथमः, द्वितीयः, तृतीयः, चतुर्थः, पञ्चमः, अन्त्यः। पञ्चमस्वरः कदाचित् मन्द्रनाम्ना तथा अतिसार्य नाम्नापि प्रसिद्धो वर्तते-

प्रथमञ्च द्वितीयञ्च तृतीयोऽथ चतुर्थकः।
मन्द्र क्रुष्टो ह्यतिसार एतान् कुर्वन्ति सामगा॥

सङ्गीतस्य प्राकृतिकस्वरूपमनादिकालादेव प्रवर्तितम्। ब्रह्माण्डे प्रायः सर्वत्र पशुपक्षिणां सङ्गीतं श्रूयते। प्रकृतेः सङ्गीतं समाहृत्य तस्मात्प्रेरणां वा प्राप्य मानवोऽपि विशेषसङ्गीतरसिकोऽभूत्।

तथा हि सप्त स्वराः पशुपक्षिध्वनिमनुकुर्वन्ति। यथोक्तममरकोषे -

षड्जं रौति मयूरस्तु गावो नर्दन्ति चर्षभम्।
अजाविकौतु गान्धारं क्रौञ्चो नर्दति मध्यमम्॥
पुष्पसाधारणकाले कोकिलो रौति पञ्चमम्।
अस्यस्तु धैवतं रौति निषादं रौति कुञ्जरः॥[११]

सम्प्रति वीणायाः यः स्वरः उत्पद्यते तस्य सम्बन्धः सामस्वरेण सह भवति। स्थानाङ्कानुसारं रागाणां विवृत्तिरधोलिखित - तालिकया स्पष्टीक्रियते-

---

[१०] नारदीयशिक्षा - १/२/४

[११] अमरकोषः - नाट्यवर्गः पृ - ७२

सामस्वरः	वेणुस्वरः	आधुनिकस्वरः	उच्चारणस्थानम्	पक्षिगानम्	वायुस्वरः
१. प्रथमः	मध्यमः (म)	सा	जिह्वामध्यम्	अविः	झलरी
२. द्वितीयः	गान्धारः (ग)	रे	कण्ठः	हंसः	शङ्खः
३. तृतीयः	ऋषभः (रे)	ग	वक्षस्थलम्	कुक्कुरः	गोमूखी
४. चतुर्थः	षडजः (सा)	म	जिह्वाग्रम्	मयूरः	मृदङ्गः
५. पञ्चमः	निषादः (नि)	प	शिरः	क्रौञ्च	महाभेरी
६. षष्ठः	धैवतः (ध)	ध	ओष्ठः	सारसः	पटहः
७. सप्तमः	पञ्चमः (प)	नि	नासिका	कोकिलः	दर्दरिका

अतएव नारदीयशिक्षायामुक्तम् -

यः सामगानां प्रथमः स वेणोर्मध्यमः स्वरः।

यो द्वितीयः स गान्धारः तृतीयस्त्वृषभः स्मृतः॥

सामवेदे मन्त्राणामुपरि अङ्काः प्रदत्ताः सन्ति। एकस्मात् अङ्कात् सप्तनाम् अङ्कानां निर्धारणं तत्र दृश्यते।

क्रुष्टस्वरः- सप्त इति अङ्केन स्वरस्यास्य प्रदर्शनं दृश्यते। अस्य प्रदर्शनम् अङ्गुष्ठस्य मोचनपूर्वकं भवति।

१. प्रथमस्वरः- एक (१) अङ्कोऽस्य बोधको वर्तते। अस्य प्रदर्शनं अङ्गुष्ठस्य मध्यमे पर्वणि भवति।
२. द्वितीयस्वरः- द्वि (२) अङ्कः अस्य ज्ञापकः वर्तते। तर्जन्या मध्यमे पर्वणि अस्य प्रदर्शनं स्यात्।
३. तृतीयस्वरः- त्रि (३) अङ्कस्य बोधको भवति। अस्य हस्तप्रदर्शनं मध्यमाया अङ्गुल्याः पर्वणि भवति।
४. चतुर्थस्वरः अस्याङ्कनं (४) इति अङ्केन दृश्यते। स्वरप्रदर्शनाय अनामिकायाः मध्यमं पर्व भवति।
५. पञ्चमस्वरः (मन्द्रस्वरः) पञ्च (५) इति अङ्केन अस्य प्रदर्शनं भवति।
६. अतिस्वार्यः अस्य ज्ञानाय षट् (६) इति अङ्कः मन्त्राणामुपरि लिख्यते। अस्य प्रदर्शनं कनिष्ठिकायाः मूले पर्वणि भवति। उक्तञ्च नारदीयशिक्षायाम् -

अङ्गुष्ठस्योत्तमे क्रुष्टे ह्यङ्गुष्ठे प्रथमस्वरः।

प्रादेशिन्यां तु गान्धारः ऋषभस्तदनन्तरम॥

अनामिकायां षडजस्तु कनिष्ठायां च धैवतः।

तस्याधस्ताच्च जन्यासु निषादं तन्न विन्यसेत्॥

वैदिकयुगे गायत्रीप्रगाथादीनां छन्दसां गायनप्रवृत्तिरासीत्। उदगाता यज्ञावसरे सामवेदस्य गायनमकरोत्।सामवेदस्यार्चिकभागस्य मन्त्राः विद्यार्थिनां गायनशिक्षणाय बभूवुः। आर्चिकस्य पञ्चाशीत्युत्तरपञ्चशतर्चः सप्तत्युत्तरैकादशशतसाममाध्यमेन गेयाः। गायनकाले स्मराभि व्यक्तिर्हस्ताङ्गुलीनां गत्या कृता।कतिपय साम्ना गानंकेवलमरण्ये कृतम्। ततो ग्रामगेयगानमरण्यगेयगानं च प्रावर्तताम्। वैदिकसंहितासु प्रायःदेवाभिप्रायं स्तुतीनां संकलनं वर्तते। तेषु क्वचित् कृषकाणां गीतानि संगृहीतानि। ऋग्वेदे यथा -

शुनं नः काला विकृषन्तु भूमिं शूनं कीनाशा अभियन्तु वाहैः।
शुनं पर्जन्यो मधुना पयोभिः शुनासीरा शुनमस्मासु धत्तम्॥[१२]

यज्ञविधानेन सङ्गीतविद्याया विशेषोन्नतिरभूत्। अश्वमेधसत्रे वर्षपर्यन्तं प्रतिदिनं यजमानस्य चरितगाथा गीताः। ब्राह्मणगायका राज्ञ औदार्यमधिकृत्य क्षत्रियगायकास्तु तस्य पराक्रममधिकृत्य गायन्ति स्म। तस्मिन् युगे गाथानाराशंसीसाहित्यस्य वैपुल्यमभवत्। पाणिनियुगे गायकः, गायनः, पुरुषगायकस्य, गाथिका-गायती स्त्रीगायिकानां संज्ञा द्रष्टव्याः। यथा - **गस्थकन्।**[१३] शिल्पिनि कर्तरि गायतेः यकन् प्रत्ययो भवति। यथा गाथकः, गाथिका, **ण्युट् च**[१४] -शिल्पिनि कर्तरि गायतेः ण्युट् प्रत्ययो भवति। यथा - गाथकः, गाथिका। श्रीशार्ङ्गदेवेनोक्तंसङ्गीतरत्नाकरे- **गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं सङ्गीतमुच्यते।**[१५] गीतं नाटकस्याङ्गमिति नाट्यशास्त्रकारेणोक्तम्।

[१२] ऋग्वेदः - ४/५७/८

[१३] अष्टाध्यायी - ३/१/१४६

[१४] तत्रैव- ३/१/१४७

[१५] सङ्गीतरत्नाकरः - १/२१

सङ्गीतरत्नाकरे यथा -

नृत्यं वाद्यानुगं प्रोक्तं वाद्यं गीतानुवृत्ति च।

अतो गीतं प्रधानत्वादत्राऽऽदावभिधीयते॥[१६]

वाद्यम्- सामवेदकालीनसमाजे चतुर्विधं वाद्ययन्त्रं प्रचलितमासीदिति श्रूयते। यथा- सङ्गीतरत्नाकरे-

गीतं चतुर्विधाद् वाद्याज्जायते चोपरज्यते।

मीयते च ततोऽस्माभिर्वाद्यमद्य निगद्यते।

तत्ततं सुषिरं चावनद्धं घनमिति स्मृतम्॥[१७]

वाद्येषु वीणा प्राचीनतमा वर्तते। यस्य ताण्ड्यप्रभृतिषु अनेकधा उल्लेखः प्राप्यते। धनुष्टङ्कारः शुन्वा वीणानिर्मितेः प्रेरणा जागृता। ताण्ड्यब्राह्मणे वाण तथा अपघाटिला नाम्नी वीणानाम् उल्लेखः प्राप्यते। उक्तञ्च वाणं वितन्वन्ति। एतासु वाण्याः शततन्त्रयः भवन्ति। **शततन्त्रीकोभवति**।[१८] वीणावैदिकयुगस्य श्रेष्ठवाद्यमासीत्। वीणायांशततन्तूनां प्रवर्तनमक्रियत। वीणा स्वरूपदृष्ट्या वहुविधासीत्। तस्या विविधानि नामानि प्रचलितान्यभवन्। गवामयनस्य षष्ठे दिवसे महाव्रतोत्सवे यजमानस्य भार्या अनुवीणं गायन्ति स्म।

कतिपयवाद्यानां लोकप्रियत्वं देवानां तदनुकुलप्रवृत्तिभिः समापन्नमिति प्रतिभाति। जैमिनीयब्राह्मणे कर्करी, अलावु, वक्रा, कापिशीर्णी रोषिकीपभृतीनां[१९] वाद्ययन्त्राणमुल्लेखः प्राप्यते। एतान्यपि वीणासदृशमिव अमन्यन्ताम्। वीणातिरिक्तं ताण्ड्ये दुन्दुभि नाम्नः

---

[१६] तत्रैव - १/२४

[१७] सङ्गीतरत्नाकर - ६/४

[१८] ताण्डब्राह्मणम् - ५/६/१३

[१९] जैमिनिब्राह्मण - ५/५/१८-१९

वाद्ययन्त्रस्योल्लेखः प्राप्यते। सर्वासु स्तक्तिषु दुन्दुभयो वदन्ति। यज्ञमण्डपे वेद्याः चतुर्सु दिक्षु दुन्दुभिवादनं बभूव।

नृत्यम् - कौषीतकिब्राह्मणानुसारं **त्रिवृट् वै शिल्पं नृत्यं गीतं वादितमिति** भावाभिनयो नृत्यम्। केवलमङ्गसञ्चालनं नृत्यं भवति। अभिनयदर्पणे यथा -

भावाभिनयहीनं तु नृत्यमित्यभिधीयते।
रसभावव्यञ्जनादियुक्तं नृत्यमित्यमितीर्यते॥[२०]

नृत्यकलायाः समारम्भः सुदुरप्राचीनकाले समभवत्। शोभनवस्त्रावृता उषः स्वरूपधारिण्यो नर्तव्यो वैदिकयुगे मनोरमा बभूवुः। नृत्येनसहाघारिवाद्यस्य संगतिः कृता। यज्ञावसरे मनोरञ्जनाय वंशनर्तिना वंशावलम्वनेन नर्तनमायोजितम् तालयाश्रितं नृत्यमपि प्रचलितमासीत्। नृत्येन सह वाद्यस्य संगतिः कृता। सामूहिकनृत्यस्य प्रचलनं तदासीत्। एतानि गीतवाद्यनृत्यालेख्यानि पराणुरागजननानि आत्मविनोदार्थानि च। सङ्गीतं तु गीतवाद्यनृत्यानां समष्टिरेव।

सङ्गीतस्य महती आवश्यकता मानवसभ्यतायाम् अनुभूयते। सङ्गीतमाध्यमेनोदानीं मानवानां रोगोपचारः क्रियते। मधुमेहः, रक्तचापः, हृदरोगः, मस्तिस्कज्वरश्चादयो रोगाः सङ्गीतमाध्यमेन अपाक्रियन्ते। सङ्गीतमेव एतादृशी विद्या वर्तते यया तत्क्षणमेव लोकोत्तरानन्दस्यानुभूतिः जायते। यदि मानवजीवनस्य समुन्नतिः काम्यते, सर्वसुखविकासश्चाभिलष्यते तर्हि सङ्गीतस्य महती आवश्यकता अनुभूयते।

[२०] अभिनयदर्पणम् - १४/१५

कोरोना काल में संस्कृत शास्त्रों की प्रासंगिकता

डा. वाचस्पति मिश्र[1]

धर्म की परिभाषा

धारणात् धर्मम् इत्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः ॥ (महाभारत)

जो प्रजा को जीवनधारण में सहयोग करे वह धर्म है अथवा यह कह सकते है कि जिसके धारण करने से पालन करने से जीवन प्रक्रिया सरलता सहजता से चलती है, वह धर्म है।

स्वच्छता मानव के आरोग्य के लिये सर्वाधिक अनिवार्य है इसीलिये धर्म के लक्षण में पाँचवाँ स्थान शुचिता स्वच्छता को दिया गया है।

धर्म के लक्षण

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्यासत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥ मनुस्मृति ६.९१

महर्षि पतञ्जलि ने योग के अंगों की व्याख्या करते समय नियमों में प्रथम स्थान शुचिता स्वच्छता को दिया है-

शौच-सन्तोष-तपः- स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।

योगसूत्र २.३२

कर्मकाण्ड में भी हाथ-पैर धोने एवं शरीर शुद्धि की प्रक्रिया को

[1] **अध्यक्ष, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ**

अर्घ्य, पाद्य प्रतिग्रहण/समर्पण के रूप में स्थान दिया गया-

अर्घ्यम् अर्घ्यम् अर्घ्यं प्रतिगृह्यताम्, पाद्यं पाद्यं पाद्यं प्रतिगृह्यताम्।

(विवाह- संस्कार)

ये शुचिता स्वच्छता पवित्रता आन्तरिक और बाह्य सभी प्रकार से होनी चाहिये इसीलिये धर्मशास्त्रों अथवा स्मृतिग्रन्थों में **भक्ष्य-अभक्ष्य विवेक** पर अलग प्रकरण बनाये गये क्योंकि ऋषियों की मान्यता रही है-

आहार-शुद्धौ सत्त्व-शुद्धिः। छान्दोग्योपनिषद्

अर्थात् आहार शुद्धि से ही जीवन प्रक्रिया के सभी अंग मन, बुद्धि, शरीर सब शुद्ध रहते हैं ।

बृहस्पति स्मृति में तो यहाँ तक कहा गया है - **सर्वेषामेव शौचानाम् अन्नशौचं विशिष्यते।**

तात्पर्य यह है कि सभी स्वच्छताओं में आहार की स्वच्छता सर्वोपरि है इसीलिये स्मृतियों में कहा भी गया है - **न उच्छिष्टं कस्यचिद् अद्यात्।**

अर्थात् न किसी को झूठा खिलायें न ही किसी का झूठा खायें।

आपस्तम्बधर्मसूत्र में भी कहा गया है- **न आपणीयमन्नमश्नीयात्।**

तात्पर्य यह है कि बाजार से क्रय किये हुये किसी भी खाद्य पदार्थ में शुचिता स्वच्छता का संदेह रहता है इसीलिये उसे शुद्ध करके खायें।

आहार का सीधा सम्बन्ध प्राणी की जीवनयात्रा से है अतः भारतीय जीवन पद्धति में ओषधियों (मसालों) का विशिष्ट स्थान है। भारतीय कर्मकाण्डों, रीति-रिवाजों, पर्व-त्यौहारों में पूजन/हवन-सामग्री या प्रसाद में रोग-प्रतिरोधक जीवनी शक्तिवर्धक अनेकानेक पदार्थों लवङ्ग, इलायची, तुलसी जैसी वस्तुओं को विशेष महत्त्व दिया।

तुलसीपत्र के लिये तो कहा गया है-

अकाल-मृत्यु-हरणं सर्वव्याधि विनाशनम्...
तुलसीकाननं ... गृहे यस्यावतिष्ठति।
तद् गृहं तीर्थरूपं हि न आयान्ति यमकिङ्कराः॥

गर्ग संहिता के इस श्लोक के अनुसार तुलसी स्वास्थ्यवर्धक है अतः मृत्यु को दूर भगाने वाली है।

एक विशिष्ट तथ्य सभी को आश्चर्यचकित करेगा कि रोग-प्रतिरोधक क्षमता में आँवले की महत्ता को देखते हुये धार्मिक दृष्टिकोण से फाल्गुन शुक्ल पक्ष की एकादशी को आमलकी एकादशी कहा जाता है।

भारतीय सभ्यता-संस्कृति में जीवनोपयोगी कर्तव्यों को पुण्य एवं हानिकारक बातों को पाप के रूप में प्रचारित किया गया है क्योंकि शास्त्रकारों ने कहा है - **प्रक्षालनाद् हि पङ्कस्य दूराद् अस्पर्शनम् वरम्।**

अर्थात् व्याधि की चिकित्सा से अच्छा उसके चंगुल में न आना ही है।

भारत के कुछ तथ्य जो अब से पहले अंधविश्वास लगते थे अब उनका साक्षात् महत्त्व पता लग रहा है। जैसे प्रसूति एवं मृत्यु के बाद सूतक-पातक का विधान हमारे शास्त्रों में विहित है क्योंकि प्रसूति के समय माता एवं जातक को बाहरी संक्रमण से बचाना होता है और मृत्यु के पश्चात् मृत शरीर का संक्रमण सामान्य जनजीवन में न फैले इसीलिये विभिन्न प्रकार की स्वच्छताओं एवं हवन आदि का विधान सूतक-पातक शुद्धि के लिये किया गया है।

महाकवि कालिदास जी का कथन है - **शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।**

अर्थात् धर्म का प्रमुख साधन स्वस्थ शरीर है। अतः शरीर को रोगों से बचाना धर्म का मूल है।

आयुर्वेद के अनुसार- **रोगस्तु दोषवैषम्यं दोषसाम्यम् अरोगता।**

त्रिदोष की विषमता ही रोगों की उत्पत्ति का मूल कारण है इसीलिये भारतीय जीवन पद्धति-सभ्यता-संस्कृति का सारा जोर त्रिदोष शमन पर है। सारे भारतवर्ष का क्षेत्रीय आहार-विहार स्थानीय निवासियों में प्रचलित रस्मों, रीति-रिवाज इसके साक्षात् प्रमाण हैं।

रोगों के नाश के लिये जहाँ अन्य अनेक उपाय बताये गये है वहीं यौगिक दिनचर्या जिसमें योग के प्रथम चार अङ्गों **यम-नियम-आसन-प्राणायाम** में सामाजिक सामञ्जस्य के साथ शारीरिक स्वास्थ्य पर बल दिया गया है, वहीं योग के अगले चार अङ्ग मानसिक एवं आत्मिक उन्नति को दिशा देते हैं।

आद्यजगद्गुरु शङ्कराचार्य जी की त्रिविध ताप को हरने वाली एक सदुक्ति आजकल बड़ी ही प्रसिद्ध हो रही है - **एकान्ते सुखमास्यताम्।**

अर्थात् सुख से एकान्तवास करिये जिसका अगला चरण है - **परतरे चेतः समाधीयताम्॥** परब्रह्म परमेश्वर में चित्त एकाग्र करिये।

किसी भी प्रकार के हानिकारक संक्रमणों से बचने का सर्वोत्तम उपाय एकान्तवास है। यह एकान्तवास कैसे हमारी सर्वविध सुखशान्ति का कारक बन सकता है, इसी की विधान अन्तिम चार अङ्गों **प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधि** के रूप में योगशास्त्र में बताया गया है।

स्वविषय-असम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूप अनुकार इव इन्द्रियाणां प्रत्याहारः। योगसूत्र २.५४

यहाँ **प्रत्याहार** का तात्पर्य यह है कि इन्द्रियों को बाह्य विषयों से हटाकर अन्तर्मुखी करना।

देशबन्धः चित्तस्य धारणा। योगसूत्र ३.१

अर्थात् मन को किसी एक विषय पर केन्द्रित करना **धारणा** है।

तत्र प्रत्यय-एकतानता ध्यानम्। योगसूत्र ३.२

अर्थात् जहाँ चित्त को लगाया जाये वहाँ वृत्ति का एकतान होना **ध्यान** है।

तदेव-अर्थमात्र-निर्भासं स्वरूप-शून्यम् इव समाधिः।

योगसूत्र ३.३

केवल ध्येय की ही प्रतीति होती है चित्त का अपना स्वरूप शून्य हो जाता है, वही ध्यान **समाधि** है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्राचीन संस्कृत शास्त्रों में प्रतिपादित जीवनचर्या वर्तमान समय में भी अत्यधिक प्रासंगिक है। ऋषि क्रान्तदर्शी होते हैं, त्रिकाल द्रष्टा होते हैं अतः उनके द्वारा लिखे गये शास्त्र भी सार्वकालिक होते हैं। उन शास्त्रों की तत्तत्काल में जितनी प्रासंगिकता थी, उतनी ही प्रासंगिकता आज भी है।

सामवेदीय ब्राह्मण ग्रन्थों में अर्थोपार्जन के स्रोत

अंकुर कुमार आर्य[१]

सामवेदीय ब्राह्मण ग्रन्थों में अर्थ अथवा धनवाचक बहुशः शब्दों का प्रयोग प्राप्त होता है। धन के महत्त्व को द्योतित करते हुए धनवाचक शब्दों के अन्तर्गत वित्त[२], श्री[३], द्रविण[४], रयि[५] आदि शब्दों का उल्लेख प्राप्त होता है। अर्थ की महत्ता विषयक वर्णन करते हुए ब्राह्मण ग्रन्थों में कहा गया है कि हम धनैश्वर्यों के स्वामी होवें।[६] ताण्ड्य ब्राह्मण में अनन्त श्री को चाहने वाला व्यक्ति ही प्राजापत्य सप्तदशरात्र का अनुष्ठान करता है।[७] किसी भी राष्ट्र की समृद्धि एवं उत्कर्ष के निमित्त अर्थ की विशेष आवश्यकता होती है। अतः ब्राह्मण ग्रन्थों में धन प्राप्ति से राष्ट्र को समृद्धशाली बनाने के लिये अनेकशः कामनाएँ की गई हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण में वर्णित है कि "हमको सब प्रकार से श्रेष्ठ धन प्राप्त कराओ, जो

---

[१] **शोधच्छात्र, वेद-विभाग, गुरुकुल कांगडी सम-विश्वविद्यालय, हरिद्वार**

[२] जैमिनीय ब्राह्मण - १/२४, षड्विंशब्राह्मण - १/४/१३

[३] ताण्ड्य ब्राह्मण - २३/२५/२, जैमिनीय ब्राह्मण - १/११७

[४] षड्विंशब्राह्मण - ३/१/१३,

[५] षड्विंशब्राह्मण - ३/१/२०, जैमिनीय ब्राह्मण - १/१२८

[६] षड्विंश ब्राह्मण- १/६/२०, ५/७/२, तैत्तिरीय ब्राह्मण- २/८/१/२, छा. ब्राह्मण- २/५

[७] ताण्ड्य ब्राह्मण - २३/११/२

पुष्टिवर्धक और यशवर्धक हो।"[८] इस प्रकार के संकेतों से ज्ञात होता है कि अर्थ का मानवीय जीवन में विशेष महत्त्व है। इसके अतिरिक्त अन्न एवं पशु आदि समृद्धि हेतु भी अनेक अनुष्ठानों का आयोजन ब्राह्मण ग्रन्थों में यत्र-तत्र वर्णित है। अर्थ की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए सामविधान ब्राह्मण में अनन्त-लक्ष्मी की कामना की गई है।[९] धन के द्वारा ही समस्त कार्यों की सिद्धि होती है। हितोपदेश कहता है "जिसके पास अर्थ है उसी के मित्र और बन्धु होते हैं। वही लोक में पुरुष है और वही पण्डित है।"

यस्यार्थास्तस्य मित्राणि यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः।
यस्यार्थाः स पुमान् लोके यस्यार्थाः स हि पण्डितः।[१०]

दरिद्र मनुष्य समाज में सम्मान नहीं पाता। धनी तथा दरिद्र की लोकस्थिति का चित्रण करते हुआ ताण्ड्य ब्राह्मण का ऋषि कहता है कि "धन-धान्य से समृद्ध व्यक्ति संसार में आदर पाते हैं जबकि दरिद्र का इस लोक में कोई आदर नहीं करता।"[११] धनहीन राजा की स्थिति का वर्णन करते हुए ताण्ड्य ब्राह्मण का ऋषि कहता है कि "धनहीन राजा कभी श्रेष्ठत्व को प्राप्त नहीं कर सकता है।"[१२] अतः धन प्राप्ति निमित्त राजाओं में प्रतिस्पर्धा भी दिग्दर्शित होती है।[१३] धन महत्ता विषयक जैमिनीय ब्राह्मण का कथन है कि- "जमदग्नि ने माहेनों का वित्त ले लिया"-

---

[८] तैत्तिरीय ब्राह्मण - २/५/६/१

[९] सामविधान ब्राह्मण - ३/२/१

[१०] हितोपदेश - १/१२६

[११] ताण्ड्य ब्राह्मण, सायण भाष्य - १९/१२/९

[१२] ताण्ड्य ब्राह्मण - १९/१२/९

[१३] ताण्ड्य ब्राह्मण - १९/१२/९

'जमदग्निर् ह वै माहेनानां पुरोहित आस।

तान् ह वित्तेनात्यादधौ।'[१४]

सामविधान ब्राह्मण में धन प्राप्त निमित्त विभिन्न आभिचारिक-कृत्यों का प्रयोग भी प्राप्तव्य है।[१५] धन प्राप्ति निमित्त ताण्ड्य ब्राह्मण के अनेक स्थलों पर भी आभिचारिक-कृत्यों का उल्लेख है।[१६]

अनेक स्थलों पर ब्राह्मण ग्रन्थों में पशु को धन (सम्पत्ति) कहा है अर्थात् पशु और धन परस्पर पर्यायवाची माने गये हैं। यथा- '**श्रीर्वै पशुः,**[१७] **पशवो वै वसु,**[१८] **पशवो वै रयिः**'[१९] इत्यादि। उक्त सन्दर्भ में एक प्रश्न उपस्थित होता है कि द्रव्य तथा धन एक है अथवा दोनो में अन्तर है? एतद्विषयक समस्या के समाधानार्थ आचार्य शुक्र का मन्तव्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वे लिखते हैं कि -

रजतस्वर्णताम्रादिव्यवहारार्थमुद्रितम्।

व्यवहार्य वराटाद्यं रत्नान्तं द्रव्यमीरितम्।

सपशुधान्यवस्त्रादितृणान्तं धनसंज्ञकम्॥

अर्थात् कौड़ी रत्न पर्यन्त द्रव्य होता है और पशु, अनाज, वस्त्र, तृण इत्यादि को धन कहते हैं ।[२०] आचार्य शुक्र के उक्त सन्दर्भ में यह बात अधिक महत्त्वपूर्ण है कि आचार्य शुक्र ने तृण जैसी छोटी चीज को

---

[१४] जैमिनीय ब्राह्मण - १/१५२

[१५] 'ब्राह्मण-ग्रन्थों के राजनीतिक सिद्धान्त', आचार्य डा. बलवीर, पाद. सं.- ७२, पृष्ठ-९०

[१६] ताण्ड्य ब्राह्मण - २३/११/२, २२/१८/६-८

[१७] शतपथ ब्राह्मण - १/८, १/३८

[१८] जैमिनीय ब्राह्मण - २/११२

[१९] जैमिनीय ब्राह्मण - १/२२५

[२०] शुक्रनीति - २/३५६

भी धन की श्रेणी में सम्मिलित किया है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में अर्थोपार्जन के विभिन्न स्रोत प्राप्त होते हैं। अर्थोपार्जन निमित्त कृषि, पशुपालन, उद्योग, व्यापार आदि प्रमुख हैं।

कृषि ब्राह्मण ग्रन्थों में अर्थोपार्जन निमित्त प्रयोग किया जाने वाला सर्वप्राचीन, सरल एवं प्रमुख साधन है। भारत की भौगोलिक पारस्थितिकी के कारण कृषिकार्य प्रारम्भ से ही अर्थोपार्जन का मुख्य साधन रहा है। किसी भी राष्ट्र की अर्थव्यवस्था में उद्योग, शिल्प व अन्य कलाओं एवं नगरों के विकास में कृषिकार्य की मुख्य भूमिका होती है। कृषिकार्य से प्राप्त अधिशेष के द्वारा ही नगरीय विकास में सहायता मिलती है। विभिन्न उद्योगों की स्थापना निमित्त प्रारम्भिक पूंजी भी कृषि-अधिशेष के द्वारा उपलब्ध होती है। उद्योगों को सुचारु रूप से चलाने हेतु कच्चे माल की आवश्यकता होती है। यह भी कृषि-कार्य द्वारा ही प्राप्तव्य है। ताण्ड्य ब्राह्मणकार कृषि-कार्य को श्रेष्ठ कर्म तथा व्यवसाय मानते हैं।[२१] ताण्ड्य ब्राह्मण में दो प्रकार की कृषि का वर्णन है - कृष्टपच्या तथा अकृष्टपच्या।[२२] कृष्टपच्या का तात्पर्य उस अन्न से है जिसे उपजाने में मानवीय परिश्रम की आवश्यकता होती है, यथा-धान्यादि। अकृष्टपच्या से तात्पर्य नीवारादि से है, जो स्वतः उपजते हैं। ब्राह्मण कालीन कृषि परम्परा में मास, व्रीहि, जौ, तिल आदि अनेक खाद्यान्नों की उपज होती थी। कृषिकार्य हेतु वृष्टि आवश्यक थी। अतः वृष्टि निमित्त सामवेदीय मन्त्रों का गान किया जाता था। ताण्ड्य ब्राह्मण में देवों द्वारा कृषि कर्म करने का उल्लेख मिलता है।[२३] यह कृषि कर्म की पवित्रता का संकेत है।

---

[२१] ताण्ड्य ब्राह्मण - १७/१/२

[२२] ताण्ड्य ब्राह्मण - ६/९/९

[२३] ताण्ड्य ब्राह्मण - ११/५/८

कृषि-कार्य निमित्त विभिन्न यन्त्रों यथा- 'मत्य'[२४] 'लाङ्गलम्'[२५] आदि का भी विस्तृत वर्णन ब्राह्मण ग्रन्थों में प्राप्त होता है।

उक्त सन्दर्भ में कृषि कर्म के अतिरिक्त आर्थिक विकास निमित्त पशुओं का महत्त्वपूर्ण स्थान तथा योगदान था। ब्राह्मण ग्रन्थों में 'ग्राम्य' तथा 'आरण्य' दो प्रकार के पशुओं का उल्लेख प्राप्त होता है।[२६] गो का धार्मिक दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व था। ब्राह्मण ग्रन्थों में गो-दान का वर्णन भी प्राप्त होता है।[२७] गो के अतिरिक्त अन्य पशुओं का (बैल, अश्व, उष्ट्र, भेड़, बकरी आदि) महत्त्व भी ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित है। युद्धादि में भी पशु सहायक थे। समस्त सांसारिक मनोकामनाओं की पूर्ति का एकमात्र साधन 'धन' मनुष्य पशुओं से ही प्राप्त करता था।[२८] भार वहन के कार्य बैल, उष्ट्र आदि पशु करते थे। यात्रा निमित्त भी पशुओं का प्रयोग किया जाता था। अतः पशुओं को श्रेष्ठ धन की श्रेणी में रखा गया है। व्यापार विनिमय का साधन भी पशु होते थे।[२९] दक्षिणा में अनेक पशुओं को दिया जाता था। इस प्रकार कृषि-कार्य के साथ-साथ पशु भी आजीविका के साधन थे तथा राष्ट्र के आर्थिक-उत्कर्ष में मुख्य भूमिका निभाते थे।

कृषि तथा पशुपालन के अतिरिक्त ब्राह्मण ग्रन्थों में अर्थोपार्जन निमित्त अनेक प्रकार के उद्योग और व्यवसायों का उल्लेख प्राप्त होता है। बृहत्-उद्योगों की अपेक्षा लघु-उद्योग, कुटीर-उद्योग अथवा गृह-उद्योगों

---

[२४] ताण्ड्य ब्राह्मण - २/९/२

[२५] शतपथ ब्राह्मण - ७/२/२/६

[२६] ताण्ड्य ब्राह्मण - २३/१३/२, जैमिनीय ब्राह्मण - १/१०/६, १/८९

[२७] ताण्ड्य ब्रा.- ९/५/१०, १६/८/३, २५/१०/१८, जै.ब्रा.- २/७६, षड्.ब्रा.- ४/२/१३

[२८] ताण्ड्य ब्राह्मण - १३/१/७ तथा १३/१/३

[२९] कौषीतकि ब्राह्मण - १/१, १/५, ५/२

को महत्त्व दिया जाता था। सन्दर्भित ग्रन्थों में वस्त्र-निर्माण-उद्योग, काष्ठ-कला-उद्योग तथा धातुओं का कार्य करने वाले विभिन्न प्रकार के उद्योगों एवं कार्यों का भी प्रतिपादन किया गया है। वस्त्र-निर्माण-उद्योग निमित्त कपास से रूई का निर्माण होता था तथा रूई के तन्तुओं से वस्त्र-निर्माण किया जाता था। ताण्ड्य ब्राह्मण में तन्तुग्रन्थन से विभिन्न प्रकार के वस्त्रों के निर्माण का वर्णन किया गया है।[३०] स्त्रियों का एक बहुत बडा वर्ग वस्त्र बुनने का कार्य करता था। वस्त्र-निर्माण में युक्त स्त्रियों को 'वयित्री' कहा जाता था।[३१] रथ-निर्माण-उद्योग को भी उस समय अर्थोपार्जन का मुख्य स्रोत माना जाता था।[३२] तात्कालिक यातायात के साधनों में रथ की मुख्य भूमिका थी। रथ के क्षत-विक्षत हो जाने पर पुनः नवीन रथ का निर्माण कर लिया जाता था।[३३]

रथ निर्माण की प्रक्रिया का भी ब्राह्मण ग्रन्थों में विस्तार से उल्लेख मिलता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में गृह-निर्माण में प्रयुक्त विभिन्न शिल्पों[३४] तथा काष्ठ निर्मित द्रोण कलशों[३५] का उल्लेख भी प्राप्त होता है। तत्कालीन समाज में चर्म-उद्योग की भी व्यापकता दिग्दर्शित होती है। पादरक्षा निमित्त चर्म से निर्मित जूते पहनने की परम्परा भी विद्यमान थी। परिधानों में रूई निर्मित वस्त्रों के अतिरिक्त मृगचर्म तथा कृष्णवलक्ष अजिन का उल्लेख प्राप्त होता है।[३६]

---

[३०] ताण्ड्य ब्राह्मण - १/८/९

[३१] ताण्ड्य ब्राह्मण - १/८/१

[३२] ताण्ड्य ब्राह्मण - २५/१०/५

[३३] ताण्ड्य ब्राह्मण - १७/८/४

[३४] ताण्ड्य ब्राह्मण - १६/४/९

[३५] ताण्ड्य ब्राह्मण - १/२/४

[३६] ताण्ड्य ब्राह्मण - ७/१/१४

व्यापार कार्य भी तात्कालिक अर्थोपार्जन का मुख्य स्रोत था। बढ़ई, बुनकर, चर्मकार आदि शिल्पीजन अपने शिल्प-कला के द्वारा निर्मित वस्तुओं का विक्रय कर खाद्यान्न को प्राप्त करते थे। पशु भी व्यापार विनिमय का साधन थे। ब्राह्मण युगीन समाज में विभिन्न धातुओं से निर्मित मुद्राओं का प्रचलन था, यथा- ताम्र, रजत, सुवर्ण, कृष्ण, अयस्[३७] आदि जो व्यापार का माध्यम होती थीं।

स्थलीय तथा जलीय दो प्रकार का व्यापार-कार्य किया जाता था। स्थलीय मार्ग साफ-सुथरे तथा लम्बे चौड़े विस्तार युक्त होते थे।[३८] स्थलीय मार्गों से माल के आवागमन निमित्त बैलगाड़ियों, रथ, ऊंट, घोड़े, गर्दभ आदि का प्रयोग किया जाता था। जलीय व्यापार का स्पष्ट निर्देश भी ब्राह्मण ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।[३९] जलीय मार्ग से व्यापार करने के लिये छोटी बड़ी नौकाओं के माध्यम से व्यापारी अपने माल का क्रय-विक्रय करते थे।

इन मुख्य तथा उत्तम साधनों के अतिरिक्त अर्थ प्राप्ति के अन्य साधन भी थे, यथा- चिकित्सा व्यवसाय, अध्यापन-कार्य, सैनिक, बुनकर आदि अनेक प्रकार की सेवावृत्तियों से तत्कालीन समाज आधुनिक काल के समान अपना अर्थोपार्जन करके जीवन निर्वाह किया करते थे।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सामवेदीय ब्राह्मणों में विभिन्न आर्थिक स्रोतों का विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है। यह वर्णन वर्तमान काल के आर्थिक जगत् के सन्दर्भ में निश्चितरूप से प्रासंगिक है।

---

[३७] सामविधान ब्राह्मण - ३/५/८

[३८] ऐतरेय ब्राह्मण - १८/३

[३९] ताण्ड्य ब्राह्मण - ५/८/४, षड्विंशब्राह्मण - ४/२/१४, जैमिनीय ब्राह्मण - ३/१९५

वैदिक साहित्य में मानव मूल्य

डा. योगेन्द्र कुमार धामा[१]

वेद -

समस्त प्रकार की विद्या के आदि स्थान के रूप में जानी जाने वाली ज्ञान राशि ही वेद है। **विद ज्ञाने**[२], **विद सत्तायाम्**[३], **विद्लृ लाभे**[४] तथा **विद विचारणे**[५] धातु से करणाधिकरण अर्थ में घञ्[६] प्रत्यय करने पर वेद शब्द सिद्ध होता है। **विदन्ति जानन्ति, विद्यन्ते, भवन्ति, विन्दन्ति, विन्दन्ते, लभन्ते, विन्दते, विचारयन्ति सर्वे मनुष्याः सर्वाः सत्यविद्या यैर्येषु वा तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः**[७] अर्थात् जिनके पढ़ने से यथार्थ विद्या का ज्ञान होता है, जिनको पढ़ के विद्वान् होते हैं, जिनसे सब सुखों का लाभ होता है और जिनसे ठीक-ठीक सत्यासत्य का विचार मनुष्यों को

---

[१] **सह-आचार्य, संस्कृत, राजकीय महाविद्यालय बामनवास, सवाईमाधोपुर, राज.**

[२] पाणिनीय धातु पाठ अदादिगण ५७

[३] पाणिनीय धातु पाठ दिवादिगण ६०

[४] पाणिनीय धातु पाठ तुदादिगण १४१

[५] पाणिनीय धातु पाठ रुधादिगण १३

[६] पाणिनीय अष्टाध्यायी- हलश्च ३.३.१२१

[७] ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका स्वामी दयानन्द

होता है, इससे ऋक्संहितादि का **वेद** नाम है। जैसा कि कहा गया है -

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एतं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥

यद्यपि इस प्रकार की व्युत्पत्तियों से वेद शब्द साधनमात्र के रूप में परिलक्षित होता है। उसके प्राधान्य का अनुभव नहीं होता। अतः **वेदयति विश्वपदार्थान् अवगमयतीति** इस प्रकार कर्तृवाचक व्युत्पत्ति के आधार पर ही उसका प्राधान्य अथवा महत्त्व प्रकट होता है। **वेदोऽखिलो धर्ममूलम्**[८], **सर्वज्ञानमयो हि सः**[९] इत्यादि मनु की उद्घोषणाओं के अनुसार निश्चित रूप से वह ज्ञान राशि मानव कल्याण की सभी युक्तियों से युक्त तथा मानव समाज के श्रेष्ठ प्रतिमानों को स्थापित करने वाली है।

मानवीय मूल्य -

वैदिक साहित्य में मानवीय मूल्यों की चर्चा प्रारम्भ करने से पूर्व मूल्यों को स्पष्ट करना आवश्यक है। वस्तुतः मूल्य वे गुणाधायक तत्त्व हैं, जिनके आधार पर किसी वस्तु अथवा तत्त्व की गुणवत्ता का परीक्षण किया जाता है। सामान्यतया लोक में प्रचलित मूल्य शब्द किसी वस्तु की उपयोगिता अथवा गुणवत्ता को स्पष्ट करता है। जो वस्तु जितनी ज्यादा उपयोगी अथवा गुणयुक्त होती है, उसका उतना ही अधिक मूल्य होता है। यही अवधारणा अन्य स्थलों पर भी स्वीकार की जा सकती है। इसी भाव के साथ मानव जीवन से सम्बन्धित वे तत्त्व जो मानवयोनि को अन्य योनियों की अपेक्षा अधिक उपयोगी गुणयुक्त अथवा महत्त्वपूर्ण सिद्ध करते हैं, वे ही वास्तव में श्रेष्ठ मानव मूल्य हो सकते हैं। प्रकारान्तर से कवि के अनुसार इन्हें इस रूप में भी प्रकट किया जा सकता है -

---

[८] मनुस्मृति २.६

[९] मनुस्मृति २.७

आहार-निद्रा-भय-मैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो, धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥[१०]

अर्थात् धर्म ही वह तत्त्व है, जो मनुष्य को पशुओं से भिन्न करने का एकमात्र साधन है। क्योंकि मनुष्य में तथा पशुओं में अन्य सभी प्रक्रियाएँ समान ही हैं। मनुष्य द्वारा किया गया धर्माचरण ही उसे पशुता से मुक्त करता है। **धार्यते यः स धर्मः** के अनुसार धारण किया गया यह धर्म अथवा कर्तव्य का आचरण ही वस्तुतः श्रेष्ठ मानव धर्म है। धर्म को भी यद्यपि भारतीय मनीषा ने अपने-अपने अनेक माध्यमों से स्पष्ट किया है। मनु के अनुसार धैर्य, सहनशीलता, दम, चोरी न करना, पवित्रता, इन्द्रियसंयम, बुद्धि, ज्ञान, सत्य तथा क्रोध न करना ये ही धर्म के दस लक्षण हैं।[११] इसी प्रकार जिन कर्त्तव्यों को करने से मनुष्य को अभ्युदय तथा निःयेसस् की प्राप्ति होती है, वही धर्म है[१२] तथा ईश्वर ने वेदों से मनुष्यों के लिए जिन कर्त्तव्य कर्मों को करने की आज्ञा दी है, वही धर्म है।[१३]

धर्म की उपर्युक्त इन सभी व्याख्याओं से यह सुतराम् सिद्ध है कि वस्तुतः जिन कर्तव्य कर्मों को करते हुए मनुष्य पशुता से मुक्त होता हुआ इस सृष्टि में सर्वश्रेष्ठ प्राणी के रूप में स्थापित होता है तथा ऐहिक एवं पारलौकिक आनन्द को अनुभव करता है, वही धर्म है तथा वे ही वास्तव में मानव मूल्य हैं।

---

[१०] नीति शतक

[११] धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयः शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्यासत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥ मनुस्मृति ६.९२

[१२] यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। वैशेषिक १.१.२

[१३] चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः। पू मीमांसा .१.१.२

इस प्रकार उपर्युक्त मानव मूल्यों को सुगमता से समझने की दृष्टि से इन्हें प्रमुखतया तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है -

१. व्यक्तिगत २. पारिवारिक ३. सामाजिक

१. **व्यक्तिगत मानव मूल्य** - इसके अन्तर्गत उन मूल्यों को माना जा सकता है, जो मानव के व्यक्तित्व विकास में सहायक होते हुए उसे जीवन के परम लक्ष्य मोक्ष तक पहुंचाने में सक्षम होते हैं। यथा - यम (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह), नियम (शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान), धैर्य, क्षमा, दम, बुद्धि, विद्या, अक्रोध, आस्तिकता, निर्भीकता इत्यादि। इन सभी मूल्यों को अपने अन्दर धारण करने की प्रेरणा वेद हमें प्रायः अनेक स्थलों पर प्रदान करता है।

अहिंसा के भाव को पुष्ट करता हुआ वेद कहता है कि मर्यादा का पालन करने वाले तथा विद्या से प्रकाशित उपदेशक, हमारे शारीरिक दोषों को दूर करो, हिंसा की भावना को दूर करो, कुटिलता और पापयुक्त बुद्धि को दूर करो, इस प्रकार पापों से हमें दूर करो।[१४] वस्तुतः हिंसा का दुर्गुण एक पाशविक वृत्ति है, जो अपने से अल्पबल और अल्पज्ञान वाले को दबाने के लिए उत्पन्न होती है। इन्हीं पापों से स्वयं को दूर करने की वेद प्रेरणा प्रदान करता है। इसी प्रकार सत्य[१५], अस्तेय[१६],

---

[१४] अपामीवामप स्रिधमप सेधत दुर्मतिम्।
आदित्यासो युयोतना नो अंहसः॥ (साम ३९६) श्रुति सौरभ -पृ. १६०

[१५] सत्यमेव जयतेनानृतम्॥ मुण्डकोपनिषद् ३.१.६
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः॥ यजु .१९.७७
श्रद्धयासत्यमाप्यते॥ यजु .१९.३०
इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि॥ यजु .१.५ इत्यादि ।

[१६] मा गृधः कस्यस्विद् धनम्॥ यजु .४०.१

ब्रह्मचर्य[१७], अपरिग्रह[१८] इत्यादि सभी मूल्यों के विषय में वेद में पर्याप्त प्रेरणाएँ प्राप्त होती हैं।

ब्रह्मचर्य पालन के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए वेद ने विस्तार से कहा है कि ब्रह्मचर्य के कारण ही सब देव अमर बने तथा ब्रह्मचर्य के सामर्थ्य से ही देवराज इन्द्र (जीवात्मा) सब देवों (इन्द्रियों) को प्रकाशित करता है।[१९] कन्या योग्य पति को प्राप्त करती है।[२०] जिस प्रकार मेघ अपनी शीतल वर्षा कर सब जगत् को शान्त करता है, उसी प्रकार ब्रह्मचारी अपने ज्ञानामृत की वृष्टि से सब जनता को शान्त करता है[२१] इत्यादि।

मन, वचन, कर्म से शुचिता का भाव ही व्यक्ति के अन्दर स्थित सभी दुर्गुणों को दूर कर देता है। यही कारण है कि वैदिक ऋषि मन्त्र के माध्यम से ईश्वर से स्वयं को पवित्रता के भाव से युक्त करने की प्रार्थना करता है।[२२]

तप को ईश्वर प्राप्ति का साधन मानकर इसकी महत्ता का वर्णन करते हुए वेद कहता है कि परमात्मा सर्वत्र है और हर एक स्थान में वह व्याप्त है। जो तप करता है, उसको ही उस प्रभु का आनन्द प्राप्त होता है।[२३] तैत्तिरीय आरण्यक के अनुसार ऋत, सत्य, श्रुत, शान्त, दम, शम,

---

[१७] अथर्ववेद ११.५

[१८] तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः यजु .४०.१

[१९] अथर्ववेद - ११.५.१६

[२०] अथर्ववेद -११.५.१८

[२१] अथर्ववेद -११.५.१२

[२२] यजुर्वेद १९.३९

[२३] ऋग्वेद ९.८३.१

दान, यज्ञ इत्यादि ही वास्तव में तप हैं।[२४]

इसी प्रकार वैदिक ऋषियों ने सन्तोष, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान, धैर्य, सहनशीलता आदि मानवीय मूल्यों की चर्चा अनेक स्थानों पर अनेकधा की है। मन की श्रेष्ठता एवं शिवसंकल्पत्व की अपेक्षा से यजुर्वेद के ३४वें अध्याय में विस्तार से वर्णन किया गया है। श्रेष्ठ बुद्धि एवं विद्या की कामना करते हुए वैदिक ऋषि ने अनेक स्थानों पर परमात्मा की स्तुति की है।[२५] जिससे इन मानव मूल्यों को धारण कर मनुष्य अपने व्यक्तित्व के विकास के साथ-साथ समाज का भी कल्याण कर सके।

२. **पारिवारिक मानव मूल्य** - पारिवारिक मानवीय मूल्यों की दृष्टि से वेद में अनेक सूक्त प्राप्त होते हैं। जिनमें व्यक्ति किस प्रकार माता, पिता, पुत्र, भाई, बहिन एवं बड़ों के साथ व्यवहार कर समाज के लिए आदर्श स्वरूप को प्रस्तुत कर सकता है, इत्यादि विषयों की विस्तार से चर्चा की गई है। वेद कहता है कि पुत्र पिता के अनुकूल कार्य करे और वह माता के साथ शुद्ध मन से व्यवहार करें। पत्नी पति के साथ शांत और मीठा संभाषण करे।[२६] भाई बहन आपस में द्वेष न करें। कुटुम्ब के सब लोग एक दिल से मिल जुल कर अपना व्यवहार करें।[२७] घर के सब लोगों में इस प्रकार का सामंजस्य हो कि जिससे उनमें कदापि विरोध न हो सके

---

[२४] ऋतं तपः सत्यं तपः श्रुतं तपः शान्तं तपो दमस्तप शमस्तपो दानं तपो यज्ञस्तपो भूर्भुवः स्वर्ब्रह्मैतदुपास्वैतत्तपः। तै .आ.१०.८

[२५] यजुर्वेद - ३२.१३-१६ - अथर्ववेद ,६.१०८.२-५

[२६] अनुव्रतः पितुः पुत्रो, मात्रा भवतु सम्मनाः।
जाया पत्ये मधुमतीम्, वाचं वदतु शान्तिवाम्॥ अथर्ववेद ३.३०.२

[२७] अथर्ववेद ३.३०.३

और उनमें सदा एक विचार रहें।[२८] इसी प्रकार अथर्ववेद के १४वें काण्ड के प्रथम एवं द्वितीय सूक्त में अत्यन्त विस्तार पूर्वक पति पत्नी के लिए पारिवारिक मूल्यों की स्थापना की गई है। इसी प्रसंग में अन्यत्र वेद ने कहा है कि पति-पत्नी ऐसे व्यवहार करें, जिससे उनका परस्पर भय और उद्वेग नष्ट होकर आत्मा की दृढ़ता, उत्साह और गृहस्थाश्रम की सिद्धि से ऐशर्य बढ़े और वे दोष तथा दुःख को छोड़कर चन्द्रमा के तुल्य आह्लादित हों।[२९] वे परस्पर प्रीति के साथ विद्वान् होकर, पुरुषार्थ से धनवान्, श्रेष्ठगुणों से युक्त होके, एक दूसरे की रक्षा करते हुए धर्मानुकूल होकर, सन्तान को उत्पन्न कर इस संसार में नित्य क्रीड़ा करें।[३०] वे यदि परस्पर विरोध को छोड़कर एक दूसरे की प्रीति में तत्पर, विद्या के विचार से युक्त होके प्रयत्न करें, तो घर में कल्याण और आरोग्य बढ़े।[३१]

माता-पिता की सेवा के विषय में वेद ने स्पष्ट रूप से कहा है कि हे पुत्रादिकों! तुम मेरे पितरों को अनेक प्रकार के उत्तम उत्तम रस, सुख प्राप्त कराने वाले स्वादिष्ट जल, सब रोगों को दूर करने वाले ओषधि, मिष्ठान्नादि पदार्थ, दूध, घी, उत्तम-उत्तम रीति से पकाया हुआ अन्न तथा रस वाले पके फलों को देके तृप्त करो। अर्थात् सब मनुष्यों को पुत्र और नौकर आदि को आज्ञा देकर कहना चाहिए कि तुमको हमारे माता पिता आदि अथवा विद्या देने वालों की प्रीतिपूर्वक सेवा करनी चाहिए। जैसे उन्होंने बाल्यावस्था या विद्यादान के समय हमारा पालन किया है। वैसे ही

---

[२८] अथर्ववेद ३.३०.४-५

[२९] यजुर्वेद - ६.३५

[३०] यजुर्वेद - १३.३५

[३१] यजुर्वेद - १२.५७

हम लोगों को भी सर्वदा सर्वथा उनका सत्कार करना चाहिए। जिससे हम लोगों के बीच में विद्या का नाश और कृतज्ञता आदि दोष कभी प्राप्त न हों।[३२]

इस प्रकार वैदिक साहित्य में वर्णित ये पारिवारिक मूल्य निश्चित रूप से प्राचीन काल से लेकर आज तक मानव समाज को कल्याण के मार्ग पर चलने को प्रेरित करते रहते हैं।

३. **सामाजिक मानव मूल्य** - समाज के जिन आदर्शों के माध्यम से उस समाज में रहने वाला मनुष्य निरन्तर विश्व कल्याण के मार्ग पर अग्रसर होता हुआ परम तत्त्व को प्राप्त करता है, वे ही वस्तुतः सामाजिक मानवीय मूल्य हैं। **कृण्वन्तो विश्वमार्यम्**[३३] के उद्घोषपूर्वक सम्पूर्ण विश्व को श्रेष्ठ बनाने के प्रयास के साथ वेद ने मानव के लिए उन श्रेष्ठाचरणों का वर्णन अनेक स्थानों पर किया है। जिन सभी का सामान्य वर्णन भी यहाँ सम्भव नहीं है, उनमें से कुछ का निदर्शन मात्र करने का प्रयास किया जा रहा है।

सर्वकल्याणाभिलाषा -सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः इत्यादि सर्व कल्याण की अभिलाषा के साथ जीवन यापन करने वाली भारतीय मनीषा को इस प्रकार की उदात्त प्रेरणाएं निश्चित रूप से वैदिक काल से ही प्राप्त हो रही थीं। वेद में अनेक स्थानों पर प्राणिमात्र के कल्याण की प्रार्थना की गई है।[३४] वेद के अनुसार शासकों द्वारा अपने प्रजाजनों के प्रति निरन्तर कल्याण का भाव बनाये रखा जाना चाहिए।

---

[३२] यजुर्वेद -२.३४

[३३] ऋग्वेद ९.६३.५

[३४] ऋग्वेद - १०.६३.४, १०.६३.१२, १०.७.१, ७.३५.१५ इत्यादि।
यजुर्वेद - २५.१५ इत्यादि।

उन्हें सर्वदा सबके हित करने का तथा स्वयं ज्ञान सम्पन्न बनने का प्रयास करना चाहिए। उनका कर्तव्य है कि वे जनता को सब प्रकार के पापमय आचरणों से उपदेश द्वारा और योग्य शासन द्वारा बचायें।[३५] इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य को अपने मन में इस प्रकार की इच्छा धारण करनी चाहिए, जिससे उसके माता पिता का, पशुओं का, मनुष्यों का तथा सब प्राणिमात्र का कल्याण हो।[३६]

सहृदयता -

हृदय में समान भाव के साथ प्रेमपूर्वक व्यवहार करना ही सहृदयता है। मन से पारस्परिक वैरभाव को नष्ट कर आपस में अनुकूलतापूर्वक आचरण करने की शिक्षा वेद में अनेक स्थानों पर प्राप्त होती है। अथर्ववेद में तो एक सम्पूर्ण सूक्त इन्हीं भावों को समर्पित है।[३७] वेद कहता है कि जिस प्रकार गौ सद्योत्पन्न अपने वत्स के प्रति व्यवहार करती है, उसी प्रकार सहृदयता, उत्तम मन तथा निर्वैरता धारण करके मनुष्यों को परस्पर प्रेम का भाव बढ़ाना चाहिए, इसी से प्राणिमात्र का कल्याण होगा।[३८] जिस प्रकार अरे नाभि के चारों ओर होते हैं, उसी प्रकार आप सब मिलकर एक ही कार्य में प्रयत्नशील रहो।[३९] अपने अन्दर दूसरों की सहायता करने का भाव रखो, एक मार्ग से आगे बढ़ो, उत्तम सुसंस्कार सम्पन्न मन को बनाओं, सर्वदा हृदय की प्रसन्नता रखो, क्योंकि इसी से अमृतपूर्ण सुख की प्राप्ति होती है।[४०]

---

[३५] ऋग्वेद - १०.६३.८

[३६] अथर्ववेद - १.३१.४

[३७] अथर्ववेद- ३.३०

[३८] अथर्ववेद - ३.३०.१

[३९] अथर्ववेद - ३.३०.६

[४०] अथर्ववेद - ३.३०.७

एकता -

मूल्यों की इसी श्रृंखला में ऐक्यभाव अर्थात् एकता का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सम्पूर्ण सृष्टि के प्रति ऐक्यभाव को जागृत करने का विचार प्राचीनकाल की विशिष्ट उपलब्धि है। इस भाव की पुष्टि में वेद में अनेक स्थानों पर ऋषियों ने अपने विचार प्रकट किये हैं। वेद कहता है कि मन, संकल्प और कर्म के व्यवहार ऐसे उत्तम होने चाहिए कि जिनसे सब की एकता हो जाए और कभी विरोध न हो सके। इसलिए जो मनुष्य विरुद्ध आचरण करने वाले हों, उनको ही एक विचार से युक्त करके अन्यों के अनुकूल बनाना चाहिए।[४१] ज्ञान प्राप्त करके आपस में द्वेषरहित होकर मिल जुल कर संघ शक्ति से रहना चाहिए। अपने मन को सुसंस्कारों से परिपूर्ण और प्राचीन ज्ञानी पुरुषों के समान अपना शुद्ध व्यवहार करना चाहिए। यही उन्नति का मार्ग है।[४२] शरीर, मन और कर्म से समाज के अन्दर समता और एकता रहनी चाहिए। किसी प्रकार भी आपस में विरोध नहीं होना चाहिए।[४३]

समानता -

सभी जीवों के प्रति समानता का दृष्टिकोण प्रकृति ने हमारे सामने प्रस्तुत किया है। उसी भाव को ग्रहण करने की शिक्षा वेदों में हमें प्राप्त होती है। वेद के अनुसार कोई प्राणी बड़ा अथवा छोटा नहीं है। ईश्वर की दृष्टि में सभी एक हैं। ये सभी भाई उन्नति के लिए मिलकर प्रयत्न करने वाले हों। क्योंकि यदि ये मिलकर पुरुषार्थ करेंगे, तभी ये उन्नत हो सकते

[४१] अथर्ववेद - ६.९४.१

[४२] अथर्ववेद - ६.६४.१

[४३] अथर्ववेद - ६.७४.१

हैं। आपस में लड़ते हुए ये अवनति को प्राप्त होंगे। इन सबका एक ईश्वर ही पिता है। वह उत्तम कर्म करने वाला है। इनके लिए उत्तम प्रकार का दूध देने वाली माता प्रकृति है। जो रोने में अपना समय नहीं खोते, परन्तु पुरुषार्थों में अपना समय लगाते हैं, उनके लिए उत्तम समय सदा ही रहता है।[४४]

पुरुषार्थ -

पुरुषस्य मनुष्यस्य अर्थः प्रयोजनमिति पुरुषार्थः अर्थात् मानव जीवन में निरन्तर किये जाने वाले सत्कर्म ही पुरुषार्थ हैं। जिसे पारिभाषिक शब्दावली में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के रूप में स्वीकार किया गया है। वैदिक साहित्य में अनेक स्थलों पर मानव को सदैव कर्म करने के लिए प्रेरित किया गया है। उसके अनुसार इस जगत् में परम पुरुषार्थ करते हुए ही मनुष्य को दीर्घ जीवन प्राप्त करने की इच्छा करनी चाहिए। पुरुषार्थमय जीवन व्यतीत करना ही मनुष्य का परम धर्म है। उद्धार का दूसरा कोई भी मार्ग नहीं है। कर्त्तव्य कर्म करने से ही सब दोष दूर हो जाते हैं और मनुष्य निर्दोषी हो जाता है।[४५] पुरुषार्थी मनुष्य की ही देव सहायता करते हैं, सुस्त मनुष्य की नहीं। देव प्रमादी मनुष्य को दंड देते हैं, इसलिए हर एक को उचित है कि वह प्रमाद न करते हुए श्रेष्ठतम पुरुषार्थ करें।[४६] इन्हीं भावों को पोषित करता हुआ ही उपनिषद् का ऋषि **उत्तिष्ठत! जाग्रत! प्राप्य वरान्निबोधत। चरैवेति-चरैवेति॥** की सुन्दर प्रेरणा प्रस्तुत करता है।

---

[४४] ऋग्वेद -५.६०.५

[४५] यजुर्वेद -४०.२

[४६] ऋग्वेद -८.२.१८ -अथर्ववेद ,२.२९.३ -यजुर्वेद ,३.४७ ,११.२१ ,२३.१५ इत्यादि।

उपर्युक्त इन मानव मूल्यों के अतिरिक्त भी सामूहिकता[४७], दान[४८], परोपकार[४९], निरन्तर उन्नति की अभिलाषा[५०], यश प्राप्ति की अभिलाषा[५१], आश्रम धर्म[५२], वर्ण धर्म[५३], अतिथि सत्कार[५४] तथा श्रद्धा[५५] आदि अनेक मूल्यों का वेद में विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है। इन श्रेष्ठ मानव मूल्यों को अपने जीवन में आचरण में लाने के कारण ही यह भारतीय समाज आदि काल से ही विश्व वन्द्य रहा है। जिसका निदर्शन हमें मनु के निम्न लोक में प्राप्त होता है-

एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्र जन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्, पृथिव्यां सर्व मानवाः॥

---

[४७] ऋग्वेद -१०.१९१.२ - ४ इत्यादि।

[४८] ऋग्वेद -१०.११७.१ - ८

[४९] ऋग्वेद -१०.११७

[५०] अथर्ववेद - २.११.१ - ५ ,८.१.४ ,६ ,१३ ,४.३१.७

[५१] ऋग्वेद -८.६७.१३ ,१.९.७ यजुर्वेद ,-१२.११०

[५२] अथर्ववेद - ११.५.१ ,३ ,१६ ,६.७८.२ ,३.१२.१ - ७

[५३] अथर्ववेद- ३.१९.१-५, ५.१८.९, ४.२२.१-४, ६, ६.९७.३, ५.५३.११, ३.१५.१-६,
ऋग्वेद - ७.१०३.१, ८,
यजुर्वेद - ३१.११, १३, ३०.५

[५४] अथर्ववेद - ९.६.३

[५५] ऋग्वेद - १०.१५१.१ - ५

प्रकाशक

स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान

गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, भोला, मेरठ- २५०५०१

अणुवाक्: pavamani८६@gmail.com